—वाग्योगी—

गीता उवाच

(गीता के कर्मयोग की पूरी और ठोस जानकारी)

लेखक : डॉ० कर्णसिंह 'वाग्योगी'

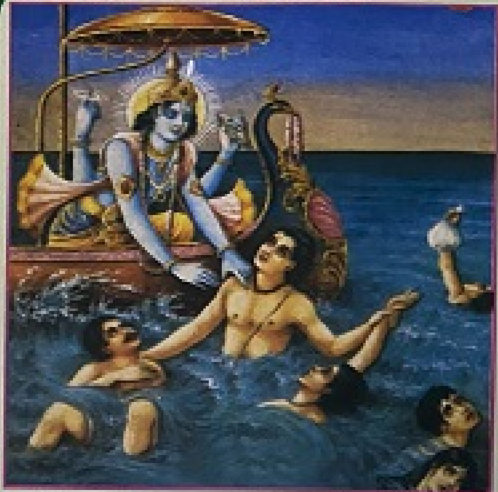

जब कभी मुझे निराशा घेरती है और कहीं से कोई प्रकाश-किरण नहीं मिलती तो, मैं अविलम्ब भगवद्गीता के पास जाता हूँ। जहाँ-तहाँ कुछ श्लोकों को टटोलते ही घोर निराशा के अन्धकार में भी प्रसन्नता की एक किरण चमक उठती है। मेरा जीवन तो बाह्य कठिनाइयों और दुःखों से भरा पड़ा है। यदि मेरे ऊपर उसका कोई अमिट प्रभाव नहीं पड़ सका है तो उसका श्रेय मुझे प्राप्त भगवद्गीता की शिक्षा को ही जाता है।

—महात्मा गाँधी

गीता अद्वितीय ग्रन्थ है, वह अब भी नया जैसा है और उसका प्रतिपाद्य विषय बिल्कुल नवीनता लिए हुए है। महाभारत के बीच लिखते समय वह जितना ताजा था, वैसा ही आज भी अनुभव में आता है।

अभी हाल में इस प्रकार की जोरदार आवाज उठी है कि आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए जिस आध्यात्मिक सत्य की आवश्यकता है, वह गीता में पूर्ण-रूप से उपलब्ध है।

—अरविन्द घोष

मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि हर व्यक्ति बिना किसी अपवाद के अपने जीवन के प्रारम्भिक क्षणों में गीता में दी हुई गृहस्थ धर्म की शिक्षा भली-भाँति सीख ले।

निष्काम कर्त्तव्य के आचरण में लगा देने वाला, गीता के समान बाल बोधग्रन्थ संस्कृत की कौन कहे, समस्त संसार के साहित्य में नहीं मिल सकता।

—लोकमान्य तिलक

मनुष्य-जीवन के लिए गीता से अधिक जागरूक प्रहरी शायद ही कोई और हो।

—स्वामी विवेकानन्द

गीता में श्रीकृष्ण ने सांसारिक कर्त्तव्य से विमुख होते हुए अर्जुन को इस संसार में रहते हुए ही अपने कर्त्तव्य को पूरा करने का उपदेश दिया है। संसार से भागकर, वनों में जाकर तपस्या आदि करना और इस प्रकार मोक्ष आदि की कामना करना 'गीता' नहीं सिखलाती। अपितु, इस संसार में रहते हुए ही अपने उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह करना ही 'गीता' की शिक्षा है।

गीता, किंकर्तव्यविमूढ़ता की दशा में कर्त्तव्यबोध कराने वाला ग्रन्थ है।

—वाग्योगी

—वाग्योगी—

गीता उवाच

(गीता के कर्मयोग की, ठोस एवं पूरी जानकारी के लिए)

स्मृतिशेष न्यायमूर्ति नरेन्द्रनाथ मित्थल संस्करण

रामनवमी, संवत् 2062

लेखक एवं सम्पादक

डॉ० कर्णसिंह 'वाग्योगी'

एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्.

पूर्व संस्कृतविभागाध्यक्ष, मेरठ कॉलिज, मेरठ

प्रकाशक :

'कृष्णा-कर्ण चैरिटेबिल ट्रस्ट'

रूप नेत्रालय, शिवाजी मार्ग, मेरठ—250001

- *प्रकाशक :*

कृष्णा-कर्ण चैरिटेबिल ट्रस्ट
रूप नेत्रालय, शिवाजी मार्ग, मेरठ-250001
फोन : 0121-2642256

- *मूल्य :* पठन-पाठन एवं अनुशीलन

प्रथम संस्करण : अगस्त, २००४
द्वितीय संस्करण : नवम्बर, २००४
स्मृतिशेष संस्करण : अप्रैल, २००५

© लेखकाधीन

- *लेजर टाइपसैटर्स :*

राज कम्प्यूटर्स
389/2, शास्त्रीनगर, मेरठ।

- *प्राप्ति स्थान :*

जस्टिस नरेन्द्रनाथ मित्थल मेमोरियल फाउण्डेशन
"नरेन्द्रालय"
195-A, साकेत, मेरठ।

- *मुद्रक :*

पुनीत शादमां
सरस्वती प्रेस
ठठेरवाड़ा स्ट्रीट, मेरठ शहर (उ०प्र०)
फोन : 0121-2517489, 3097478

जस्टिस एन.एन. मित्थल मेमोरियल फाउण्डेशन * मेरठ *

न्यायमूर्ति स्व० श्री नरेन्द्रनाथ मित्थल

जन्म : 6 अप्रैल 1930

निधन : 7 अप्रैल 1996

जन्म : ६ अप्रैल १९३० निधन : ७ अप्रैल १९९६

न्यायमूर्ति नरेन्द्रनाथ मित्थल : संक्षिप्त परिचय

उत्तर प्रदेश, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद में न्यायमूर्ति-पद पर शोभायमान रहे, स्व० श्री नरेन्द्रनाथ मित्थल जी की गणना, मेरठ नगर के उन गिने चुने लोगों में होती है, जिन्होंने अपने कार्यों से मेरठ नगर का नाम ऊँचा किया है।

स्व० श्री नरेन्द्रनाथ मित्थल जी के पिता श्री बृजनाथ मित्थल जी तथा इनके सबसे बड़े भाई श्री रघुवर दयाल मित्थल जी भी व्यवसाय से वकील ही थे तथा अपने-अपने समय के सम्भ्रान्त नागरिकों में गिने जाते थे। इसी मित्थल परिवार में श्री नरेन्द्रनाथ मित्थल का जन्म सन् १९३० में ६ अप्रैल को **रामनवमी** के दिन हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा एन.ए.एस स्कूल में हुई। इसके बाद इन्होंने मेरठ कालिज से बी-एस.सी और फिर वहीं से एल.एल.बी. किया।

सन् १९५३ में अपने पिताजी, श्री बृजनाथ मित्थल जी के स्वर्गवासी हो जाने पर, अपने परिवार की परम्परा और अपने निवास 'राम बाटिका' की रौनक को बनाये रखने के लिए, श्री नरेन्द्रनाथ मित्थल जी सदैव प्रयत्नशील रहे। उन्होंने भी वकालत को ही अपना व्यवसाय बनाया, जिससे उनके पिताजी और बड़े भैय्या जी की सुप्रतिष्ठित परम्परा अटूट बनी रही। इसके साथ ही, पहले जैसे पिता जी के स्वर्गवास के बाद बड़े भैय्या जी श्री रघुवर दयाल जी राम बाटिका का और परिवार का ध्यान रखते थे उसी प्रकार नरेन्द्र जी ने भी उसी परम्परा का निर्वाह किया। उन्होंने अपने छोटे भाइयों की भी यथासम्भव सहायता की और उनका मार्गदर्शन किया।

अपने पैतृक संस्कारों और अपने आत्मविश्वास के बल पर श्री नरेन्द्रनाथ मित्थल जी ने लगभग २५ वर्षों तक मेरठ में वकालत की और अपनी न्यायिक सूझबूझ से समाज

में और न्यायपालिका में अपना ऊँचा स्थान बना लिया। उनकी व्यावसायिक प्रतिष्ठा और स्वच्छ छवि का ही परिणाम था कि सन् १९७८ में, उन्हें उत्तर प्रदेश, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद में न्यायमूर्ति बना दिया गया। मेरठ के इतिहास में यह पहला ही अवसर था जब किसी वकील को न्यायमूर्ति बनाया गया था। वहाँ, उन्होंने सन् १९९२ तक कुशलतापूर्वक अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया। सन् १९९४ में, वे लौटकर मेरठ आ गये और जीवन के अन्त तक 'रामबाटिका' में ही रहे। दैव दुर्विपाक से, हृदयगति रुक जाने से ७ अप्रैल १९९६ में उनका स्वर्गवास हो गया।

नरेन्द्र नाथ मित्थल जी साहित्य–प्रेमी भी थे और कला–प्रेमी भी थे। वे प्रायः पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते रहते थे। उनके व्यक्तिगत पुस्तकालय में अनेक साहित्यिक, सांस्कृतिक ग्रन्थ थे। टेबिल टेनिस और बैण्डमिण्टन उनके प्रिय खेल थे। इसके साथ ही उन्हें बागवानी का भी शौक था। अपने विभिन्न विषयों के ज्ञान के कारण वे 'विश्वकोश' कहे जाते थे। १९९२ में वे विदेश भ्रमण पर भी गये थे। न्यायविद् होने के कारण व्यस्त होते हुए भी वे विश्वविद्यालयों और कालिजों के प्रबन्ध में भी सहायक रहे।

न्यायमूर्ति नरेन्द्रनाथ मित्थल जी के परिवार में उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विमल मित्थल, दो पुत्र—श्री पंकज मित्थल और श्री पल्लव मित्थल तथा दो पुत्रियाँ—पूजा और पूनम हैं। चारों ही पुत्र-पुत्रियाँ विवाहित हैं। बड़े पुत्र श्री पंकज मित्थल, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद में वकालत कर रहे हैं और छोटे पुत्र डॉ० पल्लव मित्थल, एम. ए., पी-एच. डी. जयपुर में एक कॉलिज में प्रोफेसर हैं।

श्रीमती विमल मित्थल गाजियाबाद के एक प्रतिष्ठित परिवार से हैं। इनके पिताजी, श्री आशाराम जी गर्ग 'जमींदार जी' के नाम से जाने जाते थे और उनके पास लम्बी-चौड़ी चल और अचल सम्पत्ति थी। सन् १९५७ में, विवाह होने के बाद से ही श्रीमती विमल मित्थल अपने स्नेह और अपनी सेवा से मित्थल परिवार को सुखी बनाने में लगी रही हैं। अभी भी ये श्री नरेन्द्रनाथ मित्थल जी की स्मृति के सहारे, पूरे मित्थल परिवार की देखभाल में निरन्तर लगी रहती हैं।

—**डॉ० कर्णसिंह 'वाग्योगी'**

भगवत् प्रेरणा : यह स्मृतिशेष संस्करण

मैं यह मानती हूँ कि प्रस्तुत स्मृतिशेष संस्करण को निकालने की प्रेरणा हमें भगवान् की कृपा से ही प्राप्त हुई है। वस्तुतः सन् १९९४ में, आदरणीय श्री नरेन्द्रनाथ मित्थल जी के स्वर्गवास के दिवस से ही, हमारे हृदय में यह बात निरन्तर बनी रही कि किस प्रकार हम उनकी स्मृति को संजोये रक्खें। हमारी इच्छा थी कि जो मित्थल साहब, विधि के विधान से विवश हुए, हमें छोड़कर चले गये हैं, गोलोकवासी हो गये हैं, उनकी स्मृति को हम जैसे भी हो अपने हृदय में बनाये रखें। इसके लिये यज्ञ-याग और दान-पुण्य और ऐसे ही अनेक अन्य कार्य हम यथावसर और यथाशक्ति करते भी रहे हैं, किन्तु इतने से ही हम अपने को सन्तुष्ट नहीं कर पाये हैं।

इसी बीच, मेरी भेंट डॉ० कर्णसिंह 'वाग्योगी' से हुई। वे अपनी लिखी 'गीता उवाच' पुस्तक की कुछ प्रतियाँ देने के लिये ही, हमारे घर आये थे। तभी मुझे स्मरण हुआ कि इलाहाबाद से अवकाश प्राप्त करके मेरठ आने पर, मित्थल साहब, प्रायः गीता का अध्ययन-स्वाध्याय किया करते थे। यहाँ तक कि वे संस्कृत को सीखने का भी प्रयास करते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि 'गीता' में उनकी विशेष रुचि थी। वे चाहते थे कि गीता के विचारों को जानकर हम उनसे लाभान्वित हों। उस अवस्था में भी उन्हें संस्कृत न जानने का और गीता पाठ न कर पाने का, पश्चाताप होता था। वे निरन्तर गीता के विषय वाली अच्छी पुस्तकों की खोज में रहते थे और जहाँ भी ऐसी पुस्तक मिल जाती थी, वे उसे खरीद लेते थे।

मित्थल साहब ने गीता के विषय में महात्मा गाँधी जी के, लोकमान्य तिलक जी के, विनोबा भावे जी के और विवेकानन्द जी के विचारों को जाना हुआ था। उनकी मान्यता थी कि गीता जैसा सम्मान्य ग्रन्थ, विश्व में कोई दूसरा नहीं है। वे इसे अपना और अपने

देशवासियों का सौभाग्य ही मानते थे कि गीता जैसा श्रेष्ठ ग्रन्थ उन्हें इतनी सरलता से उपलब्ध है।

गीता के विषय में मित्थल साहब की मान्यताओं को और डॉ० कर्णसिंह जी की पुस्तक 'गीता उवाच' को जब मैंने एक साथ देखा तो मुझे लगा कि मैंने वह वस्तु पा ली है जिसकी मुझे इच्छा थी। बस तभी हमने निर्णय ले लिया था कि हम 'गीता उवाच' के माध्यम से ही मित्थल साहब की स्मृति को चिरकाल तक बनाये रखने का प्रयास करेंगे।

हमें प्रसन्नता है कि अपने इस निर्णय को पूरा करने में हमें 'गीता उवाच' के प्रकाशक और लेखक का सहयोग भी पूरी तरह से मिल रहा है। इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

यदि 'गीता उवाच' पुस्तक के इस स्मृतिशेष संस्करण के द्वारा हम गीता के विचारों को जनसामान्य तक पहुँचा पायें, तो हमें निश्चय ही बड़ी प्रसन्नता होगी।

अन्त में, परम पिता परमात्मा की परम कृपा और प्रेरणा के लिये हम स्वयं को भगवत्कृपा का पात्र बनने पर अनुगृहीत अनुभव कर रहे हैं।

मैं आशा करती हूँ और मुझे विश्वास है कि इस प्रकार गीता के विचारों को अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाने से, आदरणीय मित्थल साहब की भावना का आदर करने में भी हम सफल हो सकेंगे।

।हरि ओइम तत्सत्।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

रामनवमी, २०६२

विमल मित्थल

"जस्टिस नरेन्द्रनाथ मित्थल
मेमोरियल फाउण्डेशन"
नरेन्द्रालय, 195–A, साकेत, मेरठ

प्रकाशक की ओर से

'कृष्णा-कर्ण चैरिटेबिल ट्रस्ट' की ओर से 'गीता उवाच' के दो संस्करण पहले निकल चुके हैं। प्रस्तुत "स्मृतिशेष संस्करण" विशेष कारणों से निकाला जा रहा है।

वस्तुतः, डॉ० कर्णसिंह जी और श्री नरेन्द्र मित्थल जी के सम्बन्ध बहुत ही सौहार्दपूर्ण रहे हैं। मित्थल साहब का देहान्त हो जाने से हम सब भी उतने ही दुःखी हुए हैं जितने कि मित्थल-परिवार के अन्य सभी सदस्य हैं।

पिछले वर्ष जब 'गीता उवाच' पुस्तक प्रकाशित हुई तो उसकी कुछ प्रतियाँ हमने मित्थल परिवार में भी दीं। ऐसा लगता है कि 'गीता उवाच' को देखने और पढ़ने के बाद से ही भाभी जी (श्रीमती विमल मित्थल जी) के मन में यह विचार आया था, कि कोई ऐसी ही धार्मिक-सांस्कृतिक रचना स्व० श्री नरेन्द्र नाथ मित्थल जी की स्मृति में निकाली जाये। उन्होंने अपनी यह इच्छा जब हमारे सामने रक्खी तो उससे हमारे असहमत होने का कोई प्रश्न ही नहीं था।

हमने नीतिशास्त्र में यह श्लोक कभी पढ़ा था :—

तादृशी जायते बुद्धिर् व्यवसायोऽपि तादृशः।
सहायास् तादृशा एवं यादृशी भवितव्यता॥

अपनी भाषा में इसका अर्थ है कि जो होना होता है वैसे ही बानक बन जाते हैं।

अर्थात् जब किसी काम में सफलता मिलनी होती है तो उस काम को करने वाले की बुद्धि वैसी ही हो जाती है। वैसे ही उसके प्रयास होने लगते हैं और उसी तरह की सहायता देने वाले भी उसे मिल जाते हैं।

गीता उवाच के प्रस्तुत **"स्मृतिशेष न्यायमूर्ति श्री नरेन्द्रनाथ मित्तल संस्करण"** के बारे में भी यह बात पूरी तरह से लागू होती है।

—श्रीमती कृष्णा
अध्यक्षा
कृष्णा कर्ण चैरिटेबिल ट्रस्ट

गीता-स्तुति

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥१ ॥
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिसृता ॥२ ॥
गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥३ ॥

[मानो सभी उपनिषद् गायें हैं, गोपालनन्दन अर्थात् श्रीकृष्ण मानो उस गाय को दुहने वाले हैं। अर्जुन उस बछड़े के समान हैं, जिसे देखकर गाय के थनों में दूध उतर आता है। समझदार मनुष्य (भक्त) ही उसका उपभोग करते हैं और गीता ज्ञान रूपी अमृत ही उस गाय का दूध है ॥१ ॥

जो **'गीता'** स्वयं भगवान् विष्णु के मुख से निकली है, उस **'गीता'** को भली प्रकार पढ़ लेना, समझ लेना ही पर्याप्त है; बजाय इसके कि दूसरे अधिक विस्तार वाले धर्मशास्त्रों को पढ़ा जाय ॥२ ॥

भली प्रकार प्रयत्नशील जो पुरुष (व्यक्ति) इस पवित्र गीताशास्त्र को ही पढ़ लेता है, वह भय, शोक आदि से छूटकर विष्णु के चरणों में शरण पा जाता है ॥३ ॥]

यह बाल प्रयास

दिसम्बर २००३ में हमने 'श्रीमद्भगवद्गीता' का एक सुन्दर संस्करण वाग्योगी-श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से निकाला था। उसे पाठकों ने, सर्वसम्मति से 'गीता' को सरल भाषा और सरल शैली में समझा देने वाला संस्करण माना है और हमारा उत्साह बढ़ाया है। वाग्योगी 'श्रीमद्भगवद्गीता' वस्तुतः ही एक अनोखा प्रयास सिद्ध हुआ है, जिसका प्रमाण, उस संस्करण को देखकर ही प्राप्त किया जा सकता है।

इसी बीच हमें अनुभव हुआ कि ५०-६० की अवस्था में 'गीता' को पढ़कर व्यक्ति केवल इतना ही लाभ उठा सकता है कि अपने स्वभाव के शान्त हो जाने के फलस्वरूप, वह अपने परिवार में शान्ति से अपना जीवन बिता ले। किन्तु इतने महत्त्व के ग्रन्थ का इतना थोड़ा-सा लाभ-कोई बड़ा लाभ नहीं है।

वास्तव में, घर-गृहस्थी से थके-हारे लोगों का समय बिताने के लिए गीता नहीं है और न ही गीता इसलिये है कि उससे संसारी लोगों को, संसार को छोड़ने की तैयारी करने में मदद मिल जाये। सही अर्थों में 'गीता' का लाभ (उपयोग) तो यह है कि वह पाठकों को कर्त्तव्य-पालन में लगाये। साथ ही, यह भी सुझाये कि हम अपनी जिम्मेदारी को पूरा करते हुए भी, निश्चिन्त किस प्रकार से रह सकते हैं। तात्पर्य यह कि हमारा लोक और परलोक (भी) कैसे सुधर सकता है। वस्तुतः, आँखों के सामने लोक रहे और आँखों के पीछे (मस्तिष्क में) परलोक रहे या दूसरे शब्दों में हाथों में काम रहे और मन में राम रहे—यही गीता का मुख्य सन्देश है।

सम्भवतः, यही बात कहीं हमारे अन्दर थी। इसलिए वाग्योगी श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का संस्करण निकालते समय ही, हमें यह विचार कौंधा कि गीता का बिल्कुल सही और पूरा लाभ तो, इस बात में है कि यह अमूल्य रत्न हमारे बच्चों को मिले और वे इसकी रोशनी में अपने भविष्य को देखें। १२ वर्ष की अवस्था में ही पढ़ा हुआ, गीता का कर्म का सिद्धान्त, १६-१७ वर्ष की अवस्था तक, उनका संस्कार बन जायेगा और आगे के जीवन में यह संस्कार, उनके जीवन को इतना सुगम बना देगा कि उन्हें कभी भी जीवन के दोराहे पर खड़ा होकर सोचना नहीं पड़ेगा। जीवन में जब भी 'क्या करें और क्या न करें' के हालात पैदा होंगे, तो उन्हें गीता के सहारे अपना रास्ता चुनने में कोई दिक्कत नहीं आयेगी।

आज दुनियाँ की, और देश की जो दशा है, उसे सही दिशा में ले जाने का, एक अकेला उपाय यदि कोई है, तो वह गीता का सन्देश ही है।

हमें लगता है कि दुनियाँ के दूसरे देशों ने, शायद, इस बात को हमसे भी पहले भाँप लिया है। गीता, योग, आयुर्वेद, शाकाहार और इनके लिए भारत की ओर लगी हुई उनकी दृष्टि तो यही बतलाती है। भारत से विदेशों में गये अनगिनत योगियों और सन्यासियों को दुनियाँ में जो सम्मान मिल रहा है, वहाँ उनकी जो पूछ हो रही है, उससे भी यही प्रकट होता रहा है।

आज हम भारतवासी जितनी मात्रा में 'मनी माइण्डेड' हो रहे हैं। पैसे के पीछे, हम जिस तरह से भाग रहे हैं, अमेरिकावासी और यूरोपवासी उस दौड़ के बुरे प्रभाव को, पहले ही भुगत चुके हैं। उसी का नतीजा है कि वे अब भारत की 'गीता' और भारत के 'योग' को अपनाकर अपने जीवन को सुखी और शान्त बना रहे हैं। विदेशियों के इस अनुभव से हमें कोई सीख लेनी चाहिए। अभी भी समय है कि हम जाग जायें और हमारे पास जो अमूल्य सांस्कृतिक निधि है अर्थात् पुरानी विरासत का जो अनमोल खजाना है, हम उसका मूल्य आँक लें और उसे अपने बच्चोंके हाथों में अर्थात् नयी पीढ़ी के पहरेदारों के हाथों में सौंप दें। इस एक उपाय से ही हमारे सारे पाप धुल जायेंगे। तब हिंसा, भ्रष्टाचार, बलात्कार, अनाचार, अन्याय, भेद-भाव, ऊँच-नीच मारधाड़ और लूट-खसोट अपने आप ही समाप्त हो जायेंगी। तब हर आदमी ईमानदारी से, अपनी जिम्मेदारी को निबाहेगा। वह काम तो अधिक करेगा, किन्तु ईनाम नहीं चाहेगा। वह सबको एक-सा मानेगा। वह सबके साथ बराबरी का बर्ताव करेगा। संक्षेप में, राग और द्वेष जड़ से नष्ट हो जायेंगे। चारों ओर सुख का साम्राज्य होगा। सब लोग शान्ति से साथ-साथ रह सकेंगे। सन्तोष, हमारा स्वभाव बन जायेगा। ईश्वर की बनायी व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप, हम नहीं करेंगे। जो जहाँ है, वह वहीं सुख का अनुभव करेगा।

इस प्रकार हर आदमी की जीवनयात्रा जब सहज हो जायेगी तो सारे संसार को एक कुटुम्ब का रूप (वसुधैव कुटुम्बकम्) लेने में भी कोई देर नहीं लगेगी।

संक्षेप में, हमारा यह प्रयास किशोर अवस्था वाले अपने बच्चों के लिये है। साथ ही, गीता के विषय में सामान्य रूप से और सम्पूर्ण जानकारी की इच्छा रखने वालों के लिए भी, सामान्य पुस्तक के रूप में भी यह प्रयास उपयोगी रहेगा।

इस छोटी-सी पुस्तक में हमने सबसे पहले गीता की पृष्ठभूमि के रूप में २ पाठों में वे हालात दिये हैं, जिनमें गीता का जन्म हुआ था। उसके पश्चात् ३० पाठों में, गीता के

१८ अध्यायों के, विषयों की ठोस सामग्री को बहुत ही सरल भाषा-शैली में प्रस्तुत किया है। जैसा हमने पहले भी कहा है कि 'गीता' के इस रूप को हमने बीजरूप में ही माना है, जो किशोरावस्था में, बच्चों के मन में बोया जाने पर, आगे चलकर अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होगा।

मूलपाठों में, प्रायः एक पाठ के साथ, गीता का एक श्लोक, पाद टिप्पणी के रूप में, पृष्ठ के निचले भाग में दिया है। यह श्लोक, मूल विषय से ही किसी न किसी रूप में सम्बन्धित है। इच्छा होने पर पाठक इसे कण्ठस्थ कर सकते हैं और वाग्योगी 'श्रीमद्भगवद्गीता' में दी गयी इसकी व्याख्या और सरलार्थ से इसे समझ सकते हैं। मूल विषय के अन्त में, इन सभी बिखरे हुए श्लोकों को एक स्थान पर इकट्ठा भी कर दिया गया है। इसके साथ ही, इन मूल श्लोकों के ठीक सामने के पृष्ठों में इन श्लोकों का उच्चारण, शब्दों को तोड़कर, कैसे करना चाहिए यह भी बतला दिया है। इससे नये पाठकों को गीता को पढ़ने में सुविधा होगी।

"रूपनेत्रालय"
शिवाजी मार्ग, मेरठ-250001

—डॉ० कर्णसिंह 'वाग्योगी
दूरभाष : 2642256

विषय-सूची

(क) कौरव-पाण्डव	१
(ख) जूआ और उसका परिणाम	४
उवाच १ : अर्जुन को हुआ मोह	७
उवाच २ : आत्मा को अमर जानो	९
उवाच ३ : कर्मयोगी बनो	१०
उवाच ४ : कर्मयोग को अपनाओ	१२
उवाच ५ : स्थितप्रज्ञ बनो	१४
उवाच ६ : अपने काम को यज्ञ मानो	१५
उवाच ७ : स्वयं कर्म करके दूसरों को प्रेरणा दें	१७
उवाच ८ : भगवान् कर्म करने के लिए ही अवतार लेते हैं	१८
उवाच ९ : कर्मयोगी और ज्ञानयोगी अपने को कर्त्ता नहीं मानते	२०
उवाच १० : कर्म करना ही श्रेष्ठ मार्ग है	२३
उवाच ११ : ध्यानयोग से परमात्मा की प्राप्ति	२५
उवाच १२ : ध्यानयोग की विधि	२७
उवाच १३ : ज्ञान-विज्ञान	२९
उवाच १४ : भगवान् की भक्ति	३१
उवाच १५ : रहस्य की बात	३२
उवाच १६ : भगवान् की विभूतियाँ (रूप)	३४
उवाच १७ : विस्मयकारी विश्वरूप	३६

उवाच १८ : डरावना विश्वरूप	३७
उवाच १९ : भगवान् के व्यक्तरूप की भक्ति	३९
उवाच २० : क्षेत्र को समझो	४१
उवाच २१ : क्षेत्रज्ञ को समझो	४२
उवाच २२ : सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों को जानो	४४
उवाच २३ : गुणातीत को पहचानो	४६
उवाच २४ : अनोखा है यह अश्वत्थ	४७
उवाच २५ : परमात्मा का ही अंश है—जीवात्मा	४९
उवाच २६ : दैवी सम्पत् और आसुरी सम्पत्	५१
उवाच २७ : जैसा मनुष्य वैसी ही उसकी श्रद्धा	५४
उवाच २८ : संन्यासी कौन है और त्यागी कौन है ?	५७
उवाच २९ : वर्ण-व्यवस्था को समझो	६०
उवाच ३० : भगवान् की शरण ले लो	६२

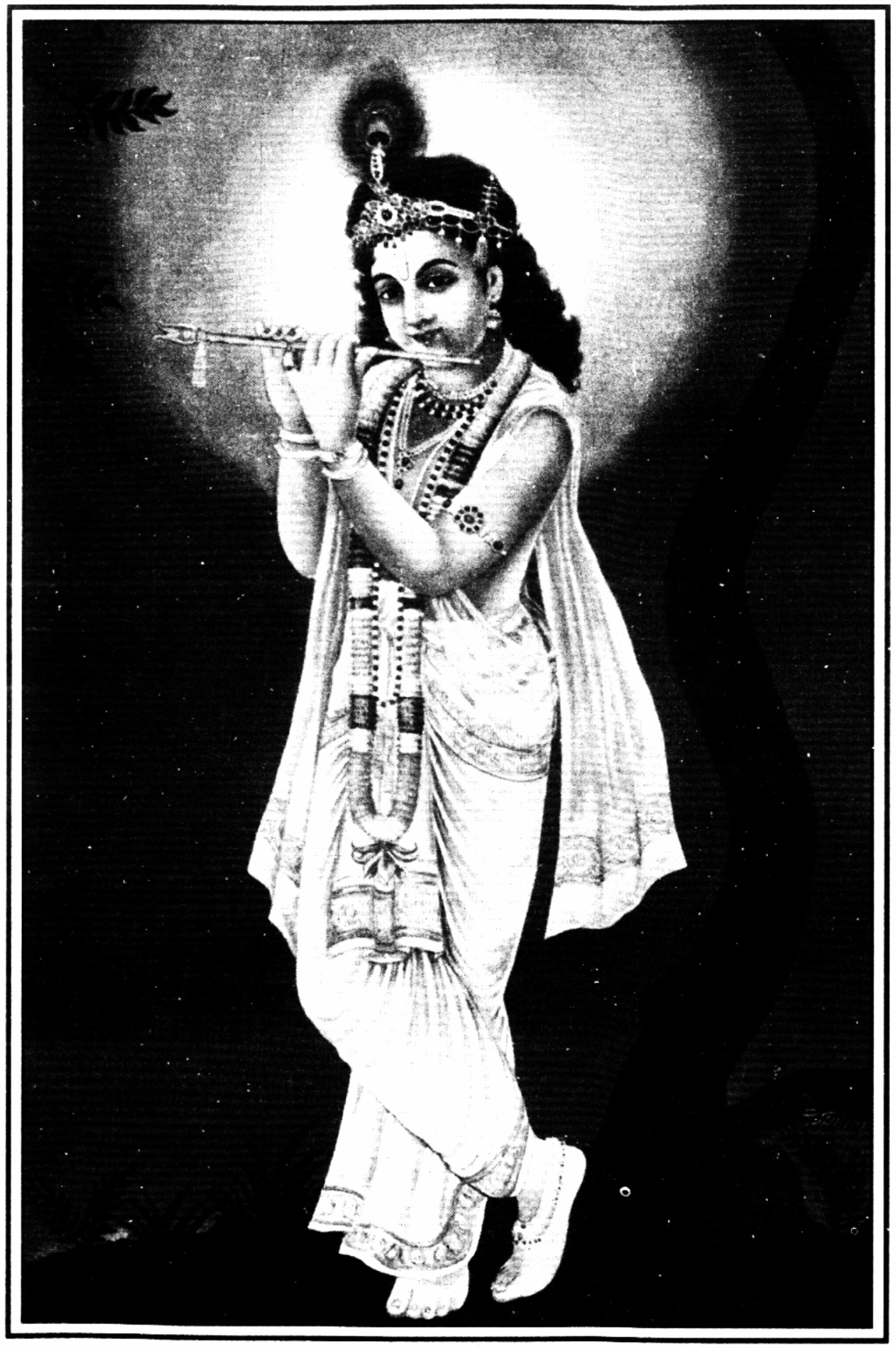

। ॐ श्रीपरमात्मने नमः ।

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम्।
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम्।
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥

त्वमेव माता च पिता त्वमेव।
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव।
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

॥ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

पृष्ठभूमि

क—कौरव-पाण्डव

बहुत पुरानी बात है। महाभारत के युद्ध में भाग लेने वाले कौरवों और पाण्डवों के पूर्वजों में 'कुरु' नाम के एक प्रसिद्ध राजा हुए हैं। वे इतने मशहूर थे कि उन्हीं के नाम पर दिल्ली और दिल्ली के आस-पास के प्रदेश को 'कुरुप्रदेश' ही कहा जाता था। 'कुरु' के नाम पर ही, उनके बाद, उनके वंश में पैदा होने वाले लोग भी 'कौरव' ही कहलाये। 'कौरव' का मतलब है—कुरु (राजा) की सन्तान।

उस समय, कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर थी। हस्तिनापुर नाम का यह नगर उत्तर प्रदेश में, मेरठ जिले में है।

जब 'महाभारत' युद्ध हुआ था, तब कौरवों में सबसे बड़े 'भीष्म' थे। भीष्म के पिता का नाम शान्तनु था। राजा शान्तनु ने अपने इस बेटे का नाम 'देवव्रत' रखा था और राजा शान्तनु के पश्चात् इसे ही राजा बनना था; किन्तु अपनी युवावस्था में ही 'देवव्रत' ने राजगद्दी पर न बैठने और विवाह न करने की भारी (भीषण) प्रतिज्ञा कर ली थी। इस भीषण प्रतिज्ञा के कारण ही, बाद में उनका नाम 'देवव्रत' से 'भीष्म' हो गया था। पितामह (दादा) हो जाने पर उनको 'भीष्म पितामह' के नाम से ही सब लोग जानते थे।

भीष्म पितामह की अगली पीढ़ी में 'धृतराष्ट्र' और 'पाण्डु' हुए। धृतराष्ट्र बड़े थे, किन्तु ये जन्म से अन्धे थे। इसलिये इन्हें राजा नहीं बनाया गया था। दुर्योधन, दुःशासन आदि इनके सौ पुत्र थे।

छोटा होने पर भी राजगद्दी पाण्डु को मिली। किन्तु, जल्दी ही इनकी मृत्यु हो गयी। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव— इनके ये पाँच पुत्र थे। आगे चलकर इनके पुत्रों को 'पाण्डव' नाम से ही जाना गया। 'पाण्डव' का मतलब है—पाण्डु की सन्तान। क्योंकि, धृतराष्ट्र और उसकी सन्तान की अलग-से, कोई पहचान नहीं बनी थी, इसलिये वे 'कौरव' नाम से ही जाने जाते रहे।

'महाभारत' युद्ध से ठीक पहले की, कौरवों-पाण्डवों के परिवार की हालत पर यदि दृष्टि डालें, तो परिवार के मुखिया 'भीष्म पितामह' को राजकाज से कुछ लेना-देना नहीं था। परिवार में वे बड़े तो थे, किन्तु किसी जिम्मेदार पद पर नहीं थे। राजा पाण्डु मर चुके थे और उनके बेटों में, सबसे बड़ा युधिष्ठिर अभी बालक ही था। अब धृतराष्ट्र ही ऐसे थे, जो आयु में भी बड़े थे और जिनकी रुचि राजकाज में भी थी। अन्धेपन के कारण वे पहले राजा नहीं बन पाये थे। मन ही मन यह बात उन्हें बहुत परेशान करती रही थी। पाण्डु के मर जाने पर और युधिष्ठिर के बालक होने पर धृतराष्ट्र के लिए यह एक अच्छा मौका था। राजा न होने पर भी, अब सारे अधिकार उन्हीं के पास थे। वे जो चाहते थे, वही होता था।

धृतराष्ट्र की देखरेख में ही सब कुछ चल रहा था। कौरव-पाण्डव, सभी राजकुमार एक साथ ही रहते थे। सबकी शिक्षा-दीक्षा भी एक-सी ही हो रही थी और रहन-सहन भी सबका राजकुमारों-जैसा, एकसा ही था। कृपाचार्य और द्रोणाचार्य राजकुमारों को शिक्षा देते थे। 'विदुर' नाम के, एक विद्वान् भी इस परिवार से जुड़े हुए थे। वे समय-समय पर, अपनी अच्छी सलाह से इस परिवार का भला करते रहते थे। विदुर की इन अच्छी सलाहों को ही, आगे चलकर 'विदुरनीति' नाम दिया गया है। 'विदुरनीति' से सभी को अच्छी शिक्षा मिलती है।

धीरे-धीरे, समय के साथ कौरव-पाण्डव बड़े हो रहे थे। 'पाण्डु' राजा का पुत्र युधिष्ठिर आयु में दुर्योधन से बड़ा था। किन्तु दुर्योधन, धृतराष्ट्र का पुत्र था और धृतराष्ट्र की देखरेख में, राजसुख भोगते-भोगते अब वह राजा बनने की लालसा रखने लगा था। दुर्योधन, शिक्षा ग्रहण करते समय से ही अनेक बार पाण्डवों से और विशेष रूप से भीम से कलह कर चुका था। अपने पिता से भी उसे बढ़ावा मिलता था।

दुर्योधन, ईर्ष्यालु होने के कारण, सदा ही पाण्डवों से बैर बढ़ाता गया। वह चाहने लगा कि इन पाण्डवों से किसी भी तरह पिण्ड छूटना चाहिए। तभी उसे सारा राजसुख मिल पायेगा। उसने अनेक बार पाण्डवों को मारना चाहा, किन्तु वे हमेशा ही बच गये। दुर्योधन के दुर्व्यवहार का पता चल जाने पर भी धृतराष्ट्र ने हमेशा दुर्योधन का ही पक्ष लिया। इसका कारण भी था। एक तो वह स्वयं राजा नहीं बन पाया था, दूसरे उसे यह अच्छा नहीं लग रहा था कि अब उसका बेटा दुर्योधन भी राजा न बन पाये। इसीलिए, नियम के अनुसार, पाण्डु के बड़े बेटे युधिष्ठिर को, युवा हो जाने पर, राजा बना दिया जाना चाहिए था, किन्तु दुर्योधन की इच्छा को मानकर धृतराष्ट्र ऐसा नहीं कर रहा था। इसका परिणाम यह हो रहा था कि कौरवों-पाण्डवों के बीच की कलह बढ़ती ही जा रही थी।

अन्त में, भीष्मपितामह, विदुर और श्रीकृष्ण के कहने पर भी जब धृतराष्ट्र और दुर्योधन नहीं माने, तो उसका उपाय यह सोचा गया कि पाण्डवों को हस्तिनापुर से दूर खाण्डववन भेज दिया जाय। ऐसा ही हुआ। कौरवों ने हस्तिनापुर का अच्छा खासा राज्य अपने पास रख लिया और पाण्डवों को खाण्डववन का राज्य दे दिया। खाण्डववन उस समय तक बिल्कुल ही जंगल था। वहाँ चारों ओर दूर-दूर तक बंजर ही बंजर था।

ख—जूआ और उसका परिणाम

सभी पाण्डव भले और शान्त स्वभाव के थे। उन्होंने कौरवों द्वारा खाण्डववन में भेजे जाने का, कुछ भी विरोध नहीं किया। वे चुपचाप हस्तिनापुर छोड़कर चले गये। वे जाकर खाण्डववन में रहने लगे। धीरे-धीरे उन्होंने अपनी बुद्धि से और अपने परिश्रम से वहाँ की बंजर-भूमि को भी हरा-भरा कर लिया। उन्होंने पहले खाण्डववन को जलाया, उसे साफ किया और उपजाऊ भूमि में बदल दिया। अपने रहने के लिए उन्होंने अच्छे-अच्छे महल भी वहाँ बना लिये। उन्होंने खाण्डववन को 'इन्द्रप्रस्थ' नाम दिया। साथ ही, एक राजसूय यज्ञ करके उन्होंने, चारों ओर अपनी बुद्धिमानी का और अपनी वीरता का डंका भी बजा दिया।

दुष्ट कभी दुष्टता नहीं छोड़ता है। यही बात यहाँ भी दिखी। दुर्योधन को जब पाण्डवों की अच्छी दशा का समाचार मिला तो वह पहले से भी अधिक जल-भुन गया। अब तो वह दिन-रात पाण्डवों को परेशान करने के उपाय ढूँढने लगा। धृतराष्ट्र भी उसे नहीं रोक पाये। दुर्योधन के मामा शकुनि ने दुर्योधन का साथ दिया। दुर्योधन और शकुनि ने आपस में सलाह करके पाण्डवों का सुख छीनने के लिए एक योजना बनाई। उन्होंने जूआ खेलने का और जूए में युधिष्ठिर को हराने का निश्चय कर लिया।

भीष्मपितामह और विदुर के मना करने पर भी दुर्योधन नहीं माना और उसने अपनी हठ से धृतराष्ट्र को मना लिया। उसके कहने से धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को जूआ खेलने का निमन्त्रण भिजवा दिया।

एक तो धृतराष्ट्र का निमन्त्रण और दूसरे उस काल में जूए को चुनौती के रूप में समझा जाना, इन दोनों कारणों से युधिष्ठिर ने इस निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया।

निश्चित दिन, सभी भाइयों के साथ युधिष्ठिर हस्तिनापुर पहुँचे और जूआ खेला गया। दुर्योधन का मामा शकुनि, जूए के खेल में बड़ा होशियार था। वह तरह-तरह की चालें तो जानता ही था। साथ ही, खेल में बेईमानी करने तक की हिम्मत भी रखता था। उसने इस तरह से पासे फेंके कि हर बार युधिष्ठिर ही दाँव हारता रहा। आखिर, परिणाम यह हुआ कि जूए की शर्त के अनुसार पाण्डवों को अपना राज्य दुर्योधन को सौंपकर, १२ वर्ष के लिए वनवास में और १ वर्ष के लिए अज्ञातवास में रहना पड़ा।

यहाँ यह बात समझना, सभी के लिए बहुत ही जरूरी है कि जूआ, वास्तव में, बहुत ही बुरा खेल है और जूआ खेलने की आदत तो बहुत ही बुरी आदत है। महाभारत काल के उस जूए से लेकर आजतक का जूए का खेल सदा ही दुःखदायी रहा है। इतना होने पर भी, आजकल भी सैकड़ों प्रकार से जूआ खेला जाता है। जूए से आज भी लाखों घर बरबाद हो रहे हैं और करोड़ों लोगों का जीवन दूभर हो रहा है। सैकड़ों लोग जूए में हारकर आत्महत्या करने पर मजबूर हो जाते हैं। अनगिनत बच्चे, बिना सहारे के हो जाते हैं। इसलिए समझदार लोग जूए से हमेशा ही दूर रहने की सलाह देते हैं। हमें चाहिए कि हँसी-मजाक में भी कभी जूए-जैसी कोई शर्त न लगायें।

खैर, जब १३ वर्ष, राज्य छोड़कर, जंगलों में भटकने के बाद पाण्डव लौटे और उन्होंने, दुर्योधन से अपना राज्य वापिस माँगा, तो दुर्योधन ने उनका राज्य लौटाने से साफ मना कर दिया। यहाँ तक कि श्रीकृष्ण और विदुर के समझाने का भी, उस पर कोई असर नहीं हुआ। बात यहाँ तक पहुँची कि पाण्डवों ने केवल ५ गाँव ही माँगे। किन्तु, दुर्योधन ने जवाब दिया कि बिना युद्ध के तो वह सूई की नोंक के बराबर भी भूमि, अब पाण्डवों को नहीं देगा। इस प्रकार शान्ति के सभी प्रयास बेकार हो जाने पर युद्ध होना निश्चित हो गया।

कौरवों और पाण्डवों के बीच होने वाला यह युद्ध ही 'महाभारत' युद्ध कहलाता है। यह युद्ध 'कुरुक्षेत्र' के मैदान में हुआ था। यह मैदान अम्बाला-करनाल के समीप है और आजकल यह एक बड़े तीर्थस्थल के रूप में प्रसिद्ध है। सूर्यग्रहण के अवसर पर यहाँ लाखों तीर्थयात्री आते हैं।

'महाभारत' का युद्ध १८ दिन तक चला था। इस युद्ध का वर्णन जिस महाकाव्य में हुआ है, उसमें भी १८ पर्व (अध्याय) हैं। 'महाभारत' महाकाव्य के भीष्मपर्व में ही 'श्रीमद्भगवद्गीता' भी है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी १८ ही अध्याय हैं।

कुरुक्षेत्र के मैदान में ही, दोनों ओर खड़ी हुई कौरवों-पाण्डवों की सेनाओं के बीच में, खड़े हुए रथ पर ही, श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था, उसी का नाम 'गीता' है।

उवाच १ : अर्जुन को हुआ मोह *अध्याय १*

युद्ध होना निश्चित हो जाने पर कौरवों की और पाण्डवों की सेनाएँ कुरुक्षेत्र के मैदान में आकर आमने-सामने खड़ी हो गयीं। दोनों ओर से युद्ध की घोषणा कर दी गयी। तभी, अर्जुन ने अपने सारथि श्रीकृष्ण से कहा कि मेरे रथ को ले जाकर दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दो, जिससे मैं देख लूँ कि मुझसे युद्ध करने के लिये कौन-कौन यहाँ आया है।

श्रीकृष्ण ने रथ को ले जाकर, दोनों सेनाओं के बीच में, खड़ा कर दिया। तब, जैसे ही अर्जुन ने सामने खड़े हुए कौरवों को देखा, वैसे ही उसने महसूस किया कि यहाँ तो सब अपने सगे-सम्बन्धी ही खड़े हैं। उसे लगा कि इतने सारे अपने लोगों का वध करके राज्य प्राप्त करना तो अच्छा नहीं होगा। इससे तो अच्छा होगा कि भीख माँगकर ही पेटभर लिया जाय। उसका हृदय अत्यधिक करुणा से भर गया। उसने बहुत ही कातरता से और दीनता से कृष्ण से कहा कि वह युद्ध नहीं कर सकेगा। उसके बाद उसने धनुष रख दिया और जाकर रथ में पीछे बैठ गया।

अर्जुन के इस प्रकार लड़ने से मना कर देने पर, श्रीकृष्ण को बड़ा आश्चर्य हुआ। बेमौके, इस प्रकार का व्यवहार करने पर, पहले तो कृष्ण ने, अर्जुन को लताड़ा। अर्जुन को, कृष्ण ने नपुंसक तक कह दिया। फिर उन्होंने उसे समझाया कि तेरे-जैसे योद्धा को, युद्ध

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥२/७॥

से मुँह मोड़ना शोभा नहीं देता है। हे अर्जुन ! तू अपना दिल छोटा मत कर। दिल की इस दुर्बलता को त्याग दे। तू युद्ध के मैदान में है। अब तू युद्ध को अपना धर्म समझ और हिम्मत से युद्ध कर।

श्रीकृष्ण के इतना समझाने पर भी, जब अर्जुन, अपने को युद्ध के लिए तैयार नहीं कर पाया तो उसने गिड़गिड़ाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ली और दीनतापूर्वक बोला—"हे कृष्ण ! मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि क्या करूँ और क्या न करूँ। मेरा क्षत्रिय स्वभाव भी, इस समय मेरा साथ नहीं दे रहा है। अब आप ही मुझे उबारिए। आप मेरे गुरु हैं और मैं आपका शिष्य हूँ। आप ही मुझे बतलाइये कि मैं क्या करूँ।"

तब, श्रीकृष्ण ने देखा कि अर्जुन, सचमुच ही भावना में बह गया है और अपना धर्म नहीं निबाह पा रहा है। उसने मोह के सामने हार मान ली है। उन्हें लगा कि अर्जुन अब पूरी तरह से मेरी शरण में आ गया है। वह चाहता है कि मैं उसे सही रास्ता दिखलाऊँ। तब, श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस प्रकार समझाना शुरु किया।

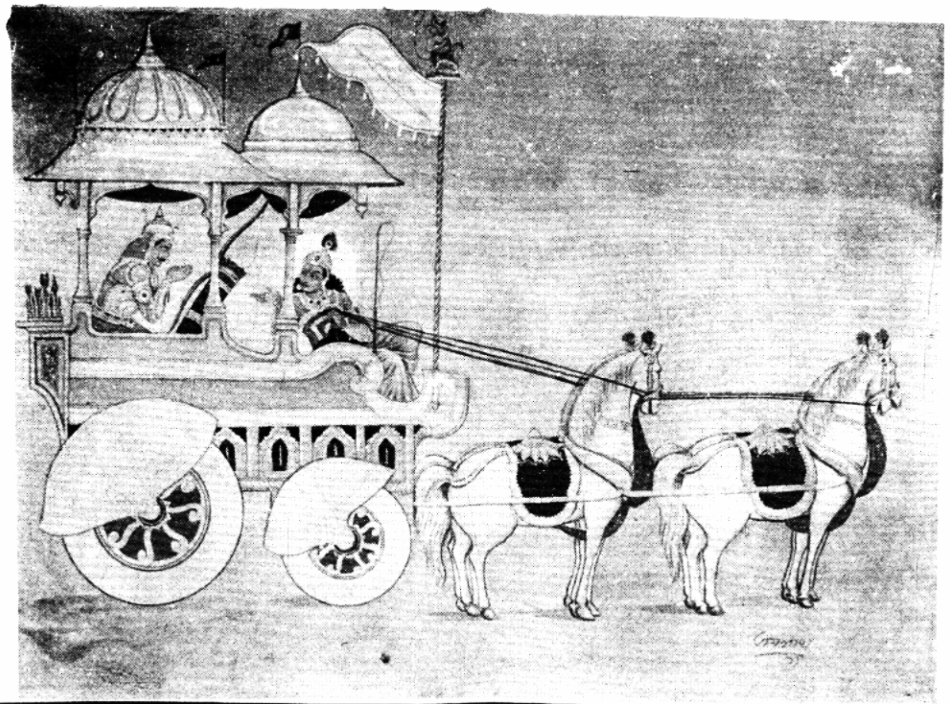

उवाच २ : आत्मा को अमर जानो *अध्याय २*

श्रीकृष्ण ने कहा—"हे अर्जुन ! युद्ध में मरने-मारने की चिन्ता को तो तू बिल्कुल ही छोड़ दे। क्योंकि, आदमी की आत्मा तो कभी मरती नहीं है। मरता केवल आदमी का शरीर है। और, आदमी का शरीर देर-सबेर अवश्य ही मरता है। आत्मा अमर है, उसमें कोई बदलाव भी नही होता है। आदमी का शरीर पहले बच्चा बनता है, फिर कुमार अवस्थावाला होता है, फिर युवा अवस्थावाला होता है, फिर बूढ़ा हो जाता है और उसके बाद मर जाता है। क्योंकि, बूढ़े शरीर में आत्मा और अधिक समय तक नहीं रह सकती है। इसलिए अधिक बुढ़ापा आने पर, अन्त में आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर चली जाती है। और, दूसरा नया शरीर ले लेती है। इसी को हम मर जाना और पैदा हो जाना कहते हैं। वास्तव में, आत्मा का शरीर को इस प्रकार बदल लेना, वैसे ही होता है, जैसे हम पुराना कपड़ा उतारकर नया कपड़ा पहन लेते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि संसार के मनुष्यों की देह में जो आत्मा रहती है, वह मेरा ही अंश है। जीवात्मा रूप में वह शरीर और इन्द्रियों के द्वारा संसार के भोगों को भोगती है तथा मृत्यु होने पर इन्द्रियों के साथ ही, आत्मा भी मनुष्य की देह को छोड़कर चली जाती है और दूसरा शरीर ले लेती है।

श्रीकृष्ण, जोर देकर अर्जुन को समझाते हैं कि क्योंकि आदमी की आत्मा (जीवात्मा) अमर है और आदमी का शरीर अवश्य ही मरता है। इसलिये हे अर्जुन ! तेरे ये शत्रु भी शरीर से ही मरेंगे, आत्मा से नहीं मरेंगे। तू इनके मरने और इनको मारने की बात मत कर। बस युद्ध कर।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२/२२॥

उवाच ३ : कर्मयोगी बनो

अध्याय २

इस प्रकार अर्जुन को मरने-मारने की चिन्ता से छुटकारा दिलाकर श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन ! तू क्षत्रिय है और योद्धा है इसलिए युद्ध करना ही तेरा असली काम है। उसे ही तू अपना धर्म समझ और अपने धर्म का पालन कर, अर्थात् युद्ध कर।

कृष्ण कहते हैं कि जो आदमी अपना काम ठीक-ठीक करता है अर्थात् अपना काम मन लगाकर और मेहनत से करता है वही आदमी अच्छा आदमी माना जाता है। कृष्ण ने यहाँ ऐसे ही आदमी को **'कर्मयोगी'** कहा है। कर्मयोगी से मतलब है, ऐसा आदमी जो अपना काम अच्छी प्रकार करता है, मेहनत से करता है और साथ ही, अपने काम का कोई फल भी वह नहीं चाहता है। कृष्ण मानते हैं कि काम के बन्धन से भी बड़ा बन्धन, काम के फल को चाहने से होता है।

जो आदमी काम पर ध्यान न देकर काम के फल पर ध्यान देता है, वह आदमी अपना काम, कभी भी ठीक तरह से नहीं कर पाता है। काम का फल अच्छा होगा, ऐसा सोचने से भी उसका ध्यान काम में नहीं लगता है, बल्कि फल मिलने की खुशी की तरफ चला जाता है। काम का फल बुरा होगा, ऐसा सोचने पर वह निराश हो जाता है और पूरी ताकत और पूरे मन से अपना काम नहीं कर पाता है। अतः, किसी भी मनुष्य को केवल, काम को ही करना चाहिए, काम के फल की चाह नहीं करनी चाहिए। काम के फल को चाहने वाला आदमी हमेशा ही दुःखी रहता है। क्योंकि फल का मिलना तो ईश्वर के अधीन है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥२/३७॥

यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि कृष्ण ने यह बात सिर्फ अर्जुन के लिए ही कही है। यह बात सभी लोगों पर लागू होती है। चाहे युद्ध करने वाला सिपाही हो या ऑफिस में काम करने वाला बाबू हो। चाहे किसान हो और चाहे व्यापारी हो। चाहे विद्यार्थी हो या अध्यापक हो। चाहे मजदूर हो या मालिक हो।

चाहे हम खेल रहे हैं, चाहे हम पढ़ रहे हैं। हमें खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते और बात करते हर समय यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारा मन उसी काम में लगा रहे, जिस काम को हम कर रहे हैं।

आगे श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि स्वभाव से तू क्षत्रिय है। युद्ध करना ही तेरा काम है और यह काम (कर्म) ही तेरा धर्म है। अगर अपने इस काम को तू वीरों की तरह से नहीं करेगा, तो तू कायर और डरपोक कहलायेगा। तेरे शत्रु भी तेरी निन्दा करेंगे और तेरी हँसी उड़ायेंगे। यह दुःख तेरे लिए मरने से भी बुरा होगा। तुझे अपना जीना भी अच्छा नहीं लगेगा। इसलिए हे अर्जुन ! तू इस युद्ध के परिणाम की चिन्ता मत कर अर्थात् यह मत सोच कि तू जीतेगा या हारेगा। बस युद्ध कर। युद्ध में यदि तू मारा भी गया तो तुझे स्वर्ग मिलेगा और अगर तू जीत गया तो तू, राजा बनकर इस सारी धरती के सुखों को भोगेगा।

उवाच ४ : कर्मयोग को अपनाओ *अध्याय २*

गीता का उपदेश श्रीकृष्ण ने, सामने खड़े अर्जुन को दिया था। अब, यहाँ वे इसी बात को, सभी लोगों के लिए इस प्रकार कहते हैं जिससे सभी देशों के और सभी जातियों के लोग इससे लाभ उठा सकें। क्योंकि, भगवान् श्रीकृष्ण की दृष्टि में तो दुनियाँ के सभी लोग बराबर हैं, चाहे वे कहीं भी रहते हों और चाहे किसी भी धर्म को मानते हो। वे चाहे किसी भी देवता की पूजा करते हों। वे गरीब हों या अमीर, काले हों या गोरे। कमजोर हो या ताकतवर। भगवान् के द्वारा दिये गये, इस उपदेश से सभी लोग लाभ उठा सकते हैं।

श्रीकृष्ण के इस उपदेश को 'कर्मयोग' कहा गया है। कर्मयोग से तात्पर्य है कि आदमी अपना काम, अपना कर्त्तव्य मानकर करे। उस काम से उसे कोई लाभ होगा या नहीं, यह न सोचे। हाँ, यह भी ध्यान रखना चाहिए कि काम से यदि कुछ लाभ नहीं होना है, तो फिर काम करना ही न छोड़ दे। काम अवश्य ही करना चाहिए। वैसे भी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि कोई भी आदमी बिना काम किये तो एक पल भी रह ही नहीं सकता। जिसको शरीर मिला है, जिसको मन और बुद्‌धि मिली है, जिसको आँख, नाक, कान, मुख आदि मिले हैं और जिसको हाथ-पैर भगवान् ने दिये हैं, ऐसा कोई भी आदमी, बिना कुछ काम किये तो रह ही नहीं सकता है। उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना, ये सब भी तो काम ही हैं। कोई पढ़ेगा-लिखेगा नहीं, तो गपशप करेगा। टी० वी० देखेगा या दोस्तों के साथ घूमता फिरेगा। यह सब भी काम ही हैं। खाली

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥२/४७ ॥

बैठा रहेगा तो भी मन से कुछ सोचेगा, यह भी तो काम ही है। इसलिए जब काम हमें करना ही है तो उचित है कि हम कोई अच्छा ही काम करे। जिससे हमारी उन्नति हो, समाज की उन्नति हो, देश की उन्नति हो और दुनियाँ की उन्नति हो।

जब आदमी कोई काम करे, तो अपना मन पूरी तरह से उसी में लगा दे, उस काम में ही डूब जाये। आधे मन से कोई काम नहीं करना चाहिए। जब हम पढ़ें तो पढ़ाई में ऐसा डूब जायें कि हमें दुनियाँ की कोई खबर ही न रहे। हमारे पास कोई ढोल भी बजाये तो हमें सुनाई न पड़े। उस काम से, लाभ-हानि के बारे में भी हमें नहीं सोचना चाहिए। उससे सुख मिलेगा या दु:ख, यह भी हमें नहीं सोचना चाहिए। काम करते हुए हम ऐसे रहें, जैसे हम, बस, उस काम के लिए ही बने हैं। ऐसा व्यक्ति हमेशा ही सुखी रहता है।

गीता कहती है कि हर आदमी के स्वभाव के अनुसार ही उसका काम भी निश्चित होता है, जिसे हर आदमी को अवश्य ही करना चाहिए। भले ही, शुरु में हम फल की इच्छा से ही कर्म करें। क्योंकि, बाद में धीरे-धीरे कर्म करने की आदत पड़ जाने पर हम फल की इच्छा के बिना भी काम करते ही रह सकते हैं।

✪

उवाच ५ : स्थितप्रज्ञ बनो *अध्याय २*

मन लगाकर, अपने करने योग्य काम को करने से व्यक्ति खुश रहता है। आदमी की इस खुशी का कारण यह है कि ऐसा (कर्मयोगी) आदमी सुख में, दुःख में, हानि में, लाभ में, सर्दी में, गर्मी में, सब समय एकसा ही रहता है। वह न किसी को अपना मानकर अधिक प्यार करता है और न किसी को पराया (गैर) मानकर उससे लड़ता-झगड़ता है। वह न तो किसी चीज से लगाव रखता है और न किसी चीज से अलगाव रखता है। वह न तो दुनियाँ की बातों में अधिक मन लगाता है और न ही दुनियाँ से भागकर जंगलों में रहने जाता है। वह सदा शान्त रहता है और सदा सन्तुष्ट रहता है।

ऐसे आदमी को भगवान् श्रीकृष्ण ने 'स्थितप्रज्ञ' कहा है। 'स्थित' अर्थात् 'ठहरी हुई' और 'प्रज्ञ' अर्थात् 'बुद्धिवाला'। मतलब है कि ऐसा आदमी 'ठहरी हुई बुद्धि वाला' होता है। वह जीवन की राहों में डावाँडोल नहीं होता। ऐसा आदमी इधर-उधर की बातों से अपने मन को हटाकर, मन को अपने में ही समेटे रखता है। उसका दुनियाँ की चीजों से, जरूरत से ज्यादा लगाव नहीं होता है। कोई चाही हुई चीज भी उसे न मिले, तो उसे क्रोध नहीं आता है। क्रोध न आने से उसकी बुद्धि सदा ही सही रहती है। बुद्धि सही रहने से वह सदा ही सुखी रहता है। उसे लगता है जैसे वह हर समय भगवान् की ही संगत में रह रहा है। ✪

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥२/५५॥

उवाच ६ : अपने काम को यज्ञ मानो *अध्याय ३*

गीता मानती है कि किसी भी आदमी को खाली नहीं बैठना चाहिए। हरेक आदमी को कोई न कोई काम अवश्य ही करते रहना चाहिए। पहले भी, गीता में, बतलाया गया है कि कोई भी आदमी बिना कुछ काम किये तो, एक पल भी नहीं रह सकता है। चाहे अच्छा काम करे या बुरा काम करे। चाहे हाथ-पैर से काम करे या मन से काम करे। हल्का काम करे या भारी काम करे। अपने लिए कोई काम करे या दूसरों के लिए काम करे। अर्थात् शरीरवाला कोई भी प्राणी, बिना कुछ किये तो रह ही नहीं सकता है। जो विद्यार्थी पढ़ता नहीं है, वह खेलता है या टी० वी०. देखता है या इधर-उधर की गपशप करता है। इसलिए अच्छा यह है कि हम कोई न कोई अच्छा काम करें। और, जिस काम को हम करते हैं, उसमें केवल अपना ही लाभ न देखें। उस काम को हम, बिना किसी लगाव के करें। ऐसा करने से, उस काम के पूरा होने की या पूरा न होने की चिन्ता से हम बच जायेंगे। उस काम से होने वाले हानि-लाभ की भी हम परवाह नहीं करेंगे।

इसलिए श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि तुम जो भी काम करो उसे यज्ञ समझकर करो। यज्ञ का मतलब है कि उस काम से अपना लगाव मत रखो। उस काम को अपने लाभ के लिए न करके और लोगों के लाभ के लिए करो अर्थात् यह मानकर वह काम करो कि इससे दुनियाँ के, देश के या समाज के लोगों का भला होगा। दूसरे जीवों को लाभ होगा। जब आदमी अपने लिए कोई काम न करके दूसरों के (भले के लिए) लिए काम करता है, तो वही यज्ञ करना कहलाता है। अपने आस-पास सफाई रखना, अपने आस-पास के

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥३/१४॥

पेड़-पौधों को पानी देना। स्कूल के कमरों को साफ रखना। स्कूल के सामान को ठीक तरह से रखना आदि काम ऐसे ही हैं। जिन्हें हर छात्र कर सकता है।

गीता मानती है कि भगवान् ने इस संसार को भी यज्ञ की भावना से ही बनाया है। यज्ञ से बादल बनते हैं। बादलों से पानी बरसता है। पानी की वर्षा से अन्न पैदा होता है। उस अन्न को खाकर लोग फिर यज्ञ करते हैं। इस प्रकार यज्ञ से काम और काम से यज्ञ और फिर यज्ञ से काम। यह चक्र चलता ही रहता है। दुनियाँ के इस चक्र को चलाने में हर आदमी को साथ देना चाहिए। जो आदमी यज्ञ से होने वाले लाभ को तो उठाता है, किन्तु आगे फिर यज्ञ के लिए काम नहीं करता है, वह चोर है। अच्छा तभी है जब हम यज्ञ के लिए काम करें और उस यज्ञ से होने वाले लाभ को, पहले दूसरों में बाँटे और फिर बचे हुए को, अपने लिए रक्खें या अपने काम में लगायें। तभी आदमी का जीवन सफल होता है। ✪

उवाच ७ : स्वयं कर्म करके दूसरों को प्रेरणा दें *अध्याय ३*

हमारे पूर्वजों में राजा जनक हुए हैं। गीता ने उनका उदाहरण देकर समझाया है कि वे संसार से कोई लगाव नहीं रखते थे। लेकिन वे काम अवश्य ही करते थे। उनके काम दूसरे लोगों की भलाई के लिए ही होते थे।

प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे लोग होते हैं, जिन पर सबकी दृष्टि जाती है। जैसे वे रहते-सहते हैं, दूसरे लोग भी, उन्हें देखकर वैसे ही रहते-सहते हैं। वे जो पहनते-ओढ़ते हैं, दूसरे लोग भी उन्हें देखकर वैसा ही पहनते-ओढ़ते हैं। संक्षेप में कहें, तो वे जैसा करते हैं, दूसरे लोग भी, उन्हें देखकर वैसा ही करते हैं। सारा समाज ऐसे लोगों के पीछे चलता है। श्रीकृष्ण ने ऐसे ही लोगों को श्रेष्ठ अर्थात् अच्छा आदमी कहा है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि किसी समाज के ऐसे श्रेष्ठ लोग जैसा बर्ताव करते हैं, उन्हें देखकर उनके समाज के दूसरे लोग भी वैसा ही बर्ताव करते हैं। अगर ऐसे लोग काम नहीं करते हैं, तो उन्हें देखकर दूसरे लोग भी काम नहीं करते हैं। उससे देश को बहुत हानि पहुँचती है। इसलिए श्रीकृष्ण, अर्जुन को समझाते हैं कि हे अर्जुन ! हमारे-तुम्हारे जैसे लोगों को तो काम अवश्य ही करना चाहिए। इससे समाज में व्यवस्था बनी रहती है।

आदमी कैसा काम करे या कौन-सा काम करे ? इसके विषय में गीता कहती है कि आदमी को अपना ही काम करना चाहिए। अपना काम चाहे अच्छा हो या बुरा, उसी को करने से आदमी का भला होता है। क्योंकि, हर आदमी का काम भी भगवान् ने उसके स्वभाव को देखकर ही बनाया है। इसलिए हर आदमी अपने ही काम को ठीक-ठीक कर सकता है। हाँ, हर आदमी को अपना काम मन लगाकर करना चाहिए। ✪

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥३/२१ ॥

उवाच ८ : भगवान् कर्म करने के लिए ही अवतार लेते हैं *अध्याय ४*

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि कर्म को अपनाने का मेरा सिलसिला बहुत पुराना है। अब से पहले भी, मैं जन्म लेकर कर्म करता रहा हूँ। जब-जब भी इस धरती पर अधर्म बढ़ता है और धर्म कम होता है, तब-तब ही मैं जन्म लेता हूँ और मनुष्य का शरीर धारण करता हूँ। तब, मैं अपने दिखलाई न देने वाले, निराकार रूप को छोड़कर, अपना दिखलाई देने वाला, साकार रूप बना लेता हूँ और निर्गुण स्वरूप को छोड़कर गुणवाला हो जाता हूँ।

धरती पर जन्म लेकर और मनुष्यों के बीच में रहकर, उन्हीं की तरह का जीवन जीते हुए, मैं कुछ ऐसे काम करता हूँ, जैसे कामों को दूसरे लोग नहीं कर पाते हैं। उदाहरण के लिए मैं भले, सज्जन, साधु लोगों की रक्षा करता हूँ और बुरे, दुर्जन, दुष्ट लोगों का नाश कर देता हूँ। अर्थात् दुर्जनों के अत्याचारों से सज्जनों को बचाता हूँ। हिरण्यकशिपु और कंस को मैंने इसी लिए मारा था—यह तो आप जानते ही हैं।

इसलिए हे अर्जुन! तू भी मुझसे कर्म करने की सीख ले ले और युद्ध में अन्याय करने वाले कौरवों का विनाश कर दे। मैं तुझसे कह रहा हूँ कि तेरे पूर्वज भी इसी प्रकार अपना करने लायक कर्म करते रहे हैं।

हे अर्जुन! पहले मैं तुझे यह समझाता हूँ कि कर्म किसे कहते हैं। क्योंकि, बड़े-बड़े समझदार भी यह नहीं समझ पाते हैं कि कर्म क्या है? हे अर्जुन! हरेक आदमी का अपना स्वभाव, दूसरे आदमियों से अलग होता हैं। अपने स्वभाव के अनुसार ही, हर आदमी अपना काम करता है। पढ़नेवाला पढ़ता है, पढ़ानेवाला पढ़ाता है। डॉक्टर इलाज

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥४/७॥

करता है। वकील वकालत करता है। किसान खेती करता है। मजदूर मजदूरी करता है, आदि आदि।

अर्जुन! मैं तुझे यह भी बतला चुका हूँ कि कोई भी शरीरधारण करने वाला आदमी एक पल भी निठल्ला नहीं रह सकता है। इसलिए जब यह मान लिया है कि हम बिना काम किये रह ही नहीं सकते हैं, तब अच्छा यही है कि हम कर्मयोगी बन जाये अर्थात् अपनी परिस्थितियों में हम जैसे हैं, जहाँ हैं और हमारे जिम्मे जो भी काम है, हम अपने उस काम को अवश्य ही करें। यदि हम विद्यार्थी हैं, तो अपने पढ़ाई के काम में हम इतना डूब जायें कि यदि पुस्तक पढ़ते हुए हमारे घर में टी० वी० भी चले, तो हमें उसकी आवाज ही सुनाई न दे। पढ़ाई के अलावा हम न कुछ देखें, न कुछ सुने और न कुछ बोलें। इस प्रकार जब कोई विद्यार्थी पढ़ता है, तो जो कुछ भी वह पढ़ता है, वह सब उसे याद हो जाता है और हमेशा याद रहता है। ✪

उवाच ९ : कर्मयोगी और ज्ञानयोगी अपने को कर्त्ता नहीं मानते *अध्याय ४*

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि कर्मयोगी के बारे में बतला चुकने के बाद, अब मैं तुम्हें ज्ञानयोगी के बारे में बतलाता हूँ। हे अर्जुन ! जिस प्रकार कर्मयोगी, अपने से किये जाने वाले कर्म का फल नहीं चाहता है और अपने कर्म से भी उसका लगाव नहीं होता है, उसी प्रकार परमात्मा को जान लेने वाला ज्ञानयोगी भी अपने कर्म का कर्ता, अपने को नहीं मानता है। 'मैं कर्म करता हूँ या यह काम मैंने किया है' आदि बातें वह नहीं सोचता है। वह मानता है कि सारे संसार में परमात्मा ही परमात्मा है। परमात्मा के अलावा यहाँ कोई दूसरी शक्ति नहीं है। वही कर्म करनेवाला है। वही कर्म करानेवाला है। आदमी तो परमात्मा के हाथ का खिलौना है। जो भी कर्म करने, कराने वाला है, वह सब परमात्मा ही है। ऐसा माननेवाला मनुष्य कभी भी अहंकारी नहीं होता है। इसलिए वह अपने आपको किसी भी कर्म का करने वाला नहीं मानता है। और, जब वह अपने को कर्म का कर्ता ही नहीं मानता है, तो फिर उस कर्म के फल का भोक्ता अर्थात् भोगनेवाला भी वह नहीं बनता है। इस प्रकार जो न कर्ता अर्थात् करनेवाला है और न भोक्ता अर्थात् भोगनेवाला है, वह फिर कर्म के बन्धन में तो बँधता ही नहीं है। क्योंकि, कर्म के बन्धन में बँधना, फल की आशा से ही होता है। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर, जब, सब कुछ परमात्मा का ही मान लिया तो फिर न तो कर्म अपना है और न कर्म का बन्धन अपना है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह ज्ञान उसी को प्राप्त होता है जो भगवान् में श्रद्धा रखने वाला है और जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥४/३९ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि तू कर्मयोगी हो जा। अपने स्वभाव से प्राप्त कर्म को, मन लगाकर कर और उस कर्म को ही अपना धर्म समझ। अपने कर्म को, मन लगाकर करने से ही तुम कर्मयोगी हो जाओगे और उससे तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जायेगा। चित्त शुद्ध होने पर तुम सरलता से ही आत्मज्ञान अर्थात् अपनी आत्मा के स्वरूप का ज्ञान, प्राप्त कर लोगे। तुम्हें मालूम हो जायेगा कि जो परमात्मा तुम्हारे अन्दर है, वही परमात्मा दूसरे सब जीवों में भी है। इस ज्ञान के होने पर तुम्हें अपने में और दूसरे में कोई भेद नहीं दिखेगा। तुम सब जीवों के साथ एक-सा व्यवहार करोगे। यही परमात्मा से मिलन है। ऐसा मिलन होने पर तुम सदा ही सुखी और प्रसन्न रहोगे। अपने काम से कभी तुम्हें थकान नहीं होगी। तुम्हारा कर्म करने का उत्साह सदा ही बना रहेगा। और, तुम अपने कर्मों से सदा ही दूसरों का भला करते रहोगे।

कृष्ण, अर्जुन से कहते हैं कि वास्तव में, कर्म के साथ लगाव होने से ही हमारा ध्यान, उस कर्म के फल पर चला जाता है और कर्म के फल का विचार, मन में आते ही हम राग-द्वेष में फँस जाते हैं। यह राग-द्वेष ही हमारे सारे दुःखों की जड़ है।

राग क्या है ? और द्वेष क्या है ?

गीता कहती है कि ये राग और द्वेष-दोनों ही एक प्रकार की चाह हैं। राग ऐसी चाह है, जिसमें हम किसी वस्तु के पास रहना चाहते हैं और द्वेष ऐसी चाह है जिसमें हम किसी वस्तु से दूर रहना चाहते हैं। ऐसी चाह के पूरी होने में जब कोई अड़चन या बाधा आती है, तो हमें क्रोध आ जाता है। और जब क्रोध आता है तो हमारी सोचने-समझने की शक्ति नष्ट हो जाती है। और, जब हमारी सोचने-समझने की शक्ति नष्ट हो जाती है तो फिर हम अच्छाई-बुराई का निर्णय नहीं कर पाते हैं और अच्छाई-बुराई का निर्णय न कर पाने का नतीजा होता है

कि हम स्वयं भी नाश को प्राप्त हो जाते हैं। अत: गीता कहती है कि राग-द्वेष से हमेशा ही बचना चाहिए।

इसी बात को हम ऐसे भी समझ सकते हैं कि कर्म के अच्छे फल का विचार आने से हमारा उस कर्म से राग अर्थात् लगाव हो जाता है और हम किसी भी तरह से उस काम को करना चाहने लगते हैं। कर्म के बुरे फल का मन में विचार आने पर हम उस कर्म से द्वेष करने लगते हैं अर्थात् किसी भी तरह उस कर्म से पीछा छुड़ाना चाहने लगते है। फल अच्छा हो, तो हम उसको प्राप्त करना चाहने लगते हैं और फल अगर बुरा हो, तो हम उससे दूर भागने लगते हैं, यही कर्म का बन्धन है। इसी कर्म के बन्धन में बँधकर आदमी जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है। और, मनुष्य-जीवन के परम उद्देश्य से अर्थात् मोक्ष से भटक जाता है।

उवाच १० : कर्म करना ही श्रेष्ठ मार्ग है *अध्याय ५*

यद्यपि कर्मों का करना अर्थात् कर्मयोगी होना और कर्मों को छोड़ना अर्थात् संन्यासी होना—इन दोनों मार्गों में से किसी को भी कम अच्छा या अधिक अच्छा कहना बड़ा कठिन है, तो भी श्रीकृष्ण कहते हैं कि इन दोनों में से, कर्मों को करने वाला मार्ग ही अच्छा है।

यदि मोक्ष प्राप्त करने की दृष्टि से विचार करें, तो चाहे कर्मों को करने से ज्ञान प्राप्त होकर मोक्ष मिले और चाहे सीधे ही ज्ञान होने से मोक्ष मिले, मोक्ष दोनों ही प्रकार से मिल जाता है, क्योंकि मोक्ष के लिए पहली बात ज्ञान प्राप्त होने की है। ज्ञान प्राप्त होने पर तो मोक्ष मिलना ही मिलना है।

कुछ लोगों का विचार है कि ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् कर्मों को बिल्कुल ही छोड़ देना चाहिए। किन्तु गीता मानती है कि पहली बात तो यह है कि कर्म बिल्कुल छोड़े ही नहीं जा सकते। उदाहरण के लिए साँस लेना और साँस छोड़ना भी तो कर्म है, जिसे जीवित रहते हुए हर आदमी को करना ही पड़ता है। दूसरी बात, जिसे गीता ने बहुत महत्त्व दिया है, वह यह है कि जगत् के व्यवहार को देखते हुए, ज्ञान हो जाने के पश्चात् भी मनुष्य को निष्काम भाव से, बिना कुछ लगाव रखे हुए, अपने नियत कर्मों को करते ही रहना चाहिए। गीता मानती है कि ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद भी मनुष्य को, लोकसंग्रह के लिए अर्थात् समाज की भलाई के लिए, कर्म करते ही रहना चाहिए।

विचार करने पर संन्यासी और कर्मयोगी दोनों ही एक-से हैं। संन्यासी, शरीर और इन्द्रियों से कर्मों को छोड़कर, मन से लोककल्याण में लगा रहता है और कर्मयोगी शरीर और

संन्यास: कर्मयोगश्च नि:श्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ ५/२ ॥

इन्द्रियों से लोककल्याण के लिए कर्म करता हुआ भी मन से यह नहीं मानता है कि उसने कोई भी काम किया है। कर्मयोगी आसक्ति छोड़कर आत्मशुद्धि के लिए शरीर एवं इन्द्रियों से कर्म करता है और यह नहीं मानता कि वह कुछ करता है।

आसक्ति छोड़कर कर्म करते रहने से ही कर्मयोगी के कर्म उसको बाँधनेवाले नहीं होते हैं।

कर्मयोगी का अज्ञान नष्ट हो जाता है। उसने जान लिया होता है कि ईश्वर का अंश उसका आत्मा, वास्तव में अकर्ता ही है। संसार में जो कुछ भी हो रहा है, या उसके शरीर से भी जो काम हो रहे हैं, वे सब प्रकृति के द्वारा ही किये जा रहे हैं। होना-न-होना, यह सब प्रकृति का ही खेल है। प्रकृति से तात्पर्य है—वे चीजें (तत्त्व) और गुण जिनसे आदमी का मन और शरीर बना है।

संक्षेप में, कर्मयोगी हो या संन्यासी हो। मुख्य बात है, आसक्ति छोड़ना और राग-द्वेष से दूर रहना तथा सुख-दुख से प्रभावित न होना। ऐसा होने पर, कर्मयोगी और संन्यासी में कोई भेद नहीं रह जाता है। हाँ, संन्यासी जहाँ शरीर से कर्मों का त्याग कर देता है, वहाँ कर्मयोगी लोकसंग्रह के लिए जीवनभर कर्म करता ही रहता है। संन्यासी के मुकाबले में कर्मयोगी की यही विशेषता है।

✪

उवाच ११ : ध्यानयोग से परमात्मा की प्राप्ति *अध्याय ६*

अभी तक हमने कर्मयोगी के बारे में ही विस्तार से जाना है। लेकिन कर्मयोगी, अगर परमात्मा के साथ एक होना चाहता है तो उसे ध्यानयोग करना चाहिए। ध्यानयोग से कर्मयोगी परमात्मा के साथ एक हो जाता है।

ध्यान से मतलब है—मन को एक ही विषय पर टिकाये रखना अर्थात् मन को एकाग्र करना। ध्यान जितना धार्मिक लोगों के लिए जरूरी है, उतना ही जरूरी दूसरे लोगों के लिए भी है। आप जो भी काम करते हैं, उसमें यदि ध्यान लगाकर उसे करेंगे, तो आपको अवश्य ही सफलता मिलेगी। आप चाहे खेल रहे हैं, चाहे पढ़ रहे हैं और चाहे कोई दूसरा काम कर रहे हैं, उसमें अपने ध्यान को लगायें अर्थात् दूसरी सब बातों से मन को हटाकर उसी एक काम में मन को लगा दें, जिस काम को आप कर रहे हैं।

ध्यान के लिए मन को समझना भी जरूरी है। हमारा मन बहुत ही चंचल है। वह एक चीज में या एक ही स्थान पर टिककर नहीं रहता है। कभी इस चीज में लग जाता है, कभी उस चीज में। कभी किसी चीज को देखने लगता है, कभी किसी बात को सुनने लगता है। कभी खेलने की ओर दौड़ता है तो कभी पढ़ने की ओर भी चला जाता है। हम घर में बैठे रहते हैं और हमारा मन बाहर घूमता रहता है। हम कक्षा में बैठे होते हैं और हमारा मन कक्षा से बाहर इधर-उधर भटकता रहता है। इसीलिए कहा जाता है कि मन को बस में करना बड़ा ही कठिन है।

गीता में कृष्ण ने मन को बस (वश) में करने के लिए दो उपाय बतलाये हैं। एक उपाय को उन्होंने 'अभ्यास' नाम दिया है और दूसरे उपाय को 'वैराग्य' कहा है। 'अभ्यास'

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥६/३५॥

का मतलब है, एक बात या काम को अपनी पूरी कोशिश से बारबार करना। जैसे, हम यदि फुटबॉल खेलने का अभ्यास करते हैं, तो बार-बार अपनी पूरी कोशिश से बॉल को पैर से मारते हैं। क्रिकेट खेलने के लिए बार-बार बल्ले से गेंद को पीटने की कोशिश करते हैं। तैरने के लिए पानी में उतरकर बार-बार हाथ-पैर चलाते हैं। पढ़ने में, बार-बार एक ही बात को याद करने की कोशिश करते हैं। बार-बार एक ही काम पर अपना ध्यान टिकाने से, फिर हमें अपने मन को उस काम में लगाने की आदत पड़ जाती है। अर्थात् हमें उस काम को करने का अभ्यास हो जाता है। अभ्यास हो जाने पर, फिर उस काम को करने में हमें कोई कठिनाई नहीं होती है। हमारा मन, अपने आप उस काम में लग जाता है।

इसी प्रकार 'वैराग्य' से मतलब है—मन को किसी चीज से या किसी काम से हटाना। अर्थात् उस काम में मन लगाने में जो बातें बाधा डालती हैं, उन बातों से हमें मन को हटाना चाहिए। यदि हम पढ़ना चाहते हैं, तो पढ़ाई में बाधा डालने वाली बातों से हमको अपना मन हटाना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि पढ़ते समय हमारा मन टी० वी० देखने में जाता है, तो हमें अपने मन को टी० वी० से हटाना चाहिए। इसे हम टी० वी० से वैराग्य कह सकते हैं। यदि हम बीमार हैं और डॉक्टर ने हमें टॉफी, चॉकलेट, चाट या आइसक्रीम खाने को मना कर दिया है, तो हमें इन चीजों से अपने मन को हटाना चाहिए। यह इन चीजों से वैराग्य कहा जा सकता है।

ऊपर की बातों से स्पष्ट होता है कि किसी विषय में अपने मन को लगातार लगाये रखना 'ध्यान' कहलाता है। और, किसी विषय में मन को लगाये रखने के लिए हमें उस विषय में, मन को लगाने का बार-बार अभ्यास करना चाहिए और अन्य बातों से मन को हटाना चाहिए। ऐसा होने पर ही, हम किसी विषय में लगातार अपना मन लगा सकते हैं।

कर्मयोगी इसी प्रकार जब दुनियाँ की अन्य बातों से अपना मन हटाकर, परमात्मा में लगाता है, तब उसे ही ध्यानयोगी कहते हैं। ✪

उवाच १२ : ध्यानयोग की विधि *अध्याय ६*

श्रीकृष्ण ने गीता में **ध्यानयोग की विधि** इस प्रकार बतलायी है कि ध्यानयोग करने वाले व्यक्ति को साफ-सुथरे और एकान्त स्थान पर अपना बैठने का आसन लगाना चाहिए। यह आसन न तो बहुत ऊँचा होना चाहिए और न बहुत नीचा होना चाहिए। यह न तो बहुत चुभने वाला, कड़ा होना चाहिए और न बहुत मुलायम होना चाहिए। उस पर बैठकर योगी को अपना शरीर सीधा रखना चाहिए। उसे आगे या पीछे झुककर नहीं बैठना चाहिए। उसकी गर्दन सीधी रहनी चाहिए। मुँह सामने रहना चाहिए। उसे चाहिए कि अपनी नाक की नोक पर अपनी निगाह को जमा कर रखे और इधर-उधर न देखे। इस प्रकार बैठकर उसे अपने मन को एकाग्र करना चाहिए। अर्थात् यदि वह परमात्मा का ध्यान कर रहा है, तो उसे अपने मन को परमात्मा में लगाये रखना चाहिए। जितनी देर भी वह ध्यान करे, उतनी देर तक उसे अपना मन परमात्मा में ही लगाये रखना चाहिए। परमात्मा के सिवाय किसी भी दूसरी चीज पर उसका मन नहीं जाना चाहिए।

ध्यानयोगी को अपना खान-पान, रहन-सहन, उठना-बैठना और आचार-विचार भी सही रखना चाहिए। उसे शान्त रहना चाहिए और अपनी आँख, नाक, कान और जिह्वा आदि इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए। मन इधर-उधर की बातों में न जाय, इसीलिए उसे शान्त और एकान्त जगह पर बैठकर ध्यान करने के लिए कहा गया है।

श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि पहले आदमी बिना लगाव के और बिना फल की इच्छा के अपना काम मन लगाकर करता है। इस प्रकार काम को ही, धर्म समझकर करते-करते,

---

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥६/१७॥

उसका मन अपने काम में रम जाता है। उसे अपने काम में ही सब तरह की खुशी मिलने लगती है। वह अपने पराये के भेद-भाव को छोड़कर सबके साथ बराबरी का बर्ताव करने लगता है। इस प्रकार कर्म करते-करते उसका चित्त शुद्ध हो जाता है और वह दुनियादारी से अपना मन हटाकर परमात्मा में अपने मन को लगाने की इच्छा करने लगता है। जब उसकी यह इच्छा बहुत बढ़ जाती है तो वह एकान्त स्थान में शान्त होकर, ध्यान लगाने बैठ जाता है। ऐसा करते-करते वह अपने को परमात्मा के साथ मिला लेता है और दुनियादारी से छूट जाता है। फिर उसे कर्म का बन्धन नहीं बाँधता है और किए हुए कर्मो का, फल भोगने के लिए भी उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता है। वह जब तक जीवित रहता है, अपने जरूरी काम करता रहता है और 'जीवन्मुक्त' कहलाता है। अर्थात् उसे जीते जी ही मुक्ति मिल जाती है। उसे मोक्ष मिल जाता है और फिर उस शरीर के छूटने पर आगे उसे शरीर नहीं मिलता है। इस प्रकार उसका जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाता है।

उवाच १३ : ज्ञान-विज्ञान

अध्याय ७

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान-विज्ञान के नाम से, परमात्मा का और संसार का परिचय दिया है। ज्ञान से तात्पर्य है कि इस संसार को चलाने वाली एक ही शक्ति है, उसी से इस सारे संसार की उत्पत्ति हुई है। उसका नाम परमात्मा है।

विज्ञान से तात्पर्य है कि इस संसार के सारे पदार्थों में वही परमात्मा समाया हुआ है। ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है, जिसमें परमात्मा न हो। संक्षेप में कहें, तो भगवान् (परमात्मा) को जानना ज्ञान है और परमात्मा की बनायी हुई दुनियाँ को जानना विज्ञान है।

इसी बात को, भगवान् श्रीकृष्ण ने 'अपरा' और 'परा' नाम से भी कहा है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि भगवान् की दो शक्तियाँ हैं। एक का नाम 'अपरा' है और दूसरी का नाम 'परा' है। यह सारा जड़ जगत् 'अपरा' नाम की शक्तिवाला है। और, जितना जीव-जगत् है, वह 'परा' नाम की शक्तिवाला है। वास्तव में, भगवान् की इन्हीं दोनों शक्तियों से संसार के सारे पदार्थों का निर्माण हुआ है।

इस प्रकार, सारे संसार में परमात्मा ही व्याप्त हो रहा है। परमात्मा सभी पदार्थों में ऐसे रहता है, जैसे माला के सभी मोतियों में धागा पुरा हुआ होता है।

आगे भगवान् कहते हैं कि जलों में मैं रस हूँ, क्योंकि रस के बिना कोई जल हो ही नहीं सकता है। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्रमा में मैं उन का प्रकाश हूँ। क्योंकि, प्रकाश के बिना सूर्य और चन्द्रमा होते ही नहीं है। वेदों में मैं 'ॐ' हूँ। पृथ्वी में मैं उसकी गन्ध हूँ और अग्नि में मैं उसका तेज (चमक और ताप) हूँ। इस प्रकार हे अर्जुन! तुम यह समझ लो, कि सारे जीवों का जीवन मैं ही हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७/७॥

यह सारा संसार जिन तीन गुणों—सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से बना है, वे तीनों गुण भी मुझसे ही पैदा होते हैं। वास्तव में, इन तीन गुणों के जाल में फँसा हुआ यह मनुष्य मुझे ठीक से नहीं समझ पाता है। जो मनुष्य मुझे ठीक से जान लेता है और मेरी शरण में आ जाता है, उसे मैं इस संसार सागर से पार उतार देता हूँ। ऐसा भक्त मुझे सबसे अधिक प्यारा होता है, क्योंकि वह जानता है कि यह सारा संसार 'वासुदेवमय' है। अर्थात् इस सारे संसार के सभी पदार्थों में वासुदेव (भगवान्) समाये हुए हैं।

हे अर्जुन! वास्तव में तो मैं 'अव्यक्त' (बिना शरीरवाला और न दिखलाई देनेवाला) हूँ। जो लोग ज्ञानी नहीं हैं वे मुझे मनुष्य के रूप वाला मान लेते हैं और 'व्यक्त रूप' में अर्थात दिखलाई देने वाले श्रीकृष्ण रूप में मेरी पूजा करते हैं। इसके अलावा कुछ लोग तो दूसरे देवताओं के रूप में अर्थात् शिव, विष्णु आदि के रूप में मेरी ही पूजा करते हैं। वैसे सब लोगों की पूजा, मेरी ही पूजा होती है और उनकी पूजा का फल भी, मैं ही, उन पूजा करने वालों को देता हूँ।

संक्षेप में, ज्ञानी लोग मेरे अव्यक्त और सर्वव्यापी रूप की पूजा करके मुक्त हो जाते हैं।

✪

उवाच १४ : भगवान् की भक्ति *अध्याय ८*

श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि यज्ञ, दान, तप और वेद आदि के पढ़ने-पढ़ाने से जो पुण्य मिलता है, भक्ति से प्राप्त होने वाला फल उससे बहुत अधिक होता है। भगवान् की भक्ति से, भगवान् के पास पहुँच जाने पर, मनुष्य को जो ज्ञान होता है, उससे मनुष्य को मोक्ष मिल जाता है। अर्थात् भगवान्, का स्मरण करते हुए जो लोग मरते हैं, वे सदा के लिए जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाते हैं। इसके मुकाबले में वेदपाठ और यज्ञ आदि करने से जो पुण्य मिलता है और उस पुण्य से जो स्वर्ग का सुख मिलता है, वह सुख पुण्य के कम हो जाने पर चला जाता है और फिर जन्म लेना और मरना पड़ता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! जो मनुष्य प्राणायाम करके 'ॐ' का उच्चारण करते हुए शरीर छोड़ता है, उसे मरने के बाद अच्छी गति मिलती है। इसलिए हे अर्जुन! युद्ध करते हुए तू मुझे याद करता रह। इस प्रकार यदि तेरी मृत्यु भी होगी तो तुझे उत्तम गति ही प्राप्त होगी और तू जन्म-मृत्यु के चक्कर से छूट जायेगा। क्योंकि, मरते समय मनुष्य जिस बात को या जिस भावना को अपने मन में रखता है, वही वस्तु या गति उसे मरने पर प्राप्त होती है।

भगवान् का भक्त, जो हर समय ही भगवान् को स्मरण करता है, वह तो मरते समय भी भगवान् को स्मरण करता ही है। अतः उसे मृत्यु के पश्चात् मोक्ष मिल जाता है।

✪

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥८/६॥

उवाच १५ : रहस्य की बात *अध्याय ९*

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! अब मैं तुझे एक बड़े रहस्य की बात बतलाता हूँ। वह रहस्य की बात यह है कि वैसे तो मैं दिखलाई न देने वाले (अव्यक्त) रूप में सब पदार्थों में व्याप्त रहता हूँ, किन्तु मेरे उस रूप को जानना और मेरे उस रूप की भक्ति करना बहुत कठिन है। इसलिए तू मेरे, इस दिखलाई देने वाले (व्यक्त) रूप को ही जान ले और इसी की भक्ति कर ले। वस्तुतः, भगवान् की इस प्रकार से भक्ति कर लेना ही मोक्ष प्राप्त करने का राजमार्ग है अर्थात् संसार से मुक्त हो जाने का सरल और सुगम मार्ग भी है।

भगवान् यहाँ बतलाते हैं कि वस्तुतः, मेरे अव्यक्त रूप से ही इस दिखलाई देने वाले सारे संसार की रचना होती है। मैं ही इसे बनाता हूँ और मैं स्वयं ही, सब जगह और सब चीजों में रहता हूँ। यह सब मेरी ही माया है। चूँकि, न दिखलायी देने वाले इस (अव्यक्त) रूप में मुझे समझना कठिन है, इसलिए तू दिखलाई देने वाले जिन दूसरे देवताओं की भक्ति करता है, उन सबको भी तू मेरा ही रूप मान ले। फिर तू उनकी ही भक्ति करता रह। इस प्रकार उन दूसरे, दिखलाई देने वाले देवताओं की भक्ति करता हुआ भी, तू मेरा ही भक्त बन जायेगा। क्योंकि, वे दूसरे देवता भी तो मेरे ही रूप हैं।

हे अर्जुन ! मेरी भक्ति का मार्ग ही वस्तुतः राजमार्ग है। इस राजमार्ग पर चलता हुआ, मेरा भक्त पत्र, पुष्प, फल आदि जो भी पदार्थ भक्तिभाव से मुझे अर्पित करता है, मैं

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥९/२२॥

उसके दिये उस पदार्थ को अवश्य ही स्वीकार करता हूँ। इसलिये हे अर्जुन ! तू अपने सभी कर्म—खाना-पीना, उठना-बैठना, हवन करना, दान देना या तप करना आदि मुझे दे दे। जब तू अपने ये सारे कर्म मुझे दे देगा; तो, तब, तू इन कर्मों के बन्धन से छूट जायेगा। फिर इन कर्मों के फलस्वरूप तुझे मरना-जीना नहीं पड़ेगा।

अन्त में, एक बहुत ही रहस्य की बात, भगवान् अर्जुन से कहते हैं। वे कहते हैं कि हे अर्जुन ! कितना ही बुरा मनुष्य हो, कितना ही बड़ा पापी हो, किसी भी नीच योनि का हो, जब वह मेरी शरण में आ जाता है और मेरा भक्त बन जाता है, तो मैं उसका उद्धार कर देता हूँ। तब उसे अच्छी गति प्राप्त हो जाती है। हे अर्जुन ! तू तो न बुरा है न पापी है अपितु मनुष्य योनि का है और क्षत्रिय है। अतः तू जब अपना मन मुझमें लगायेगा, और मेरी भक्ति करेगा, तब तू तो अवश्य ही मुझे प्राप्त हो जायेगा। तब जन्म-मरण से तेरा छुटकारा हो जायेगा और तुझे मोक्ष मिल जायेगा।

उवाच १६ : भगवान् की विभूतियाँ (रूप) *अध्याय १०*

इससे पहले भी भगवान् ने बतलाया है कि संसार के सभी पदार्थों में मैं ही समाया हुआ हूँ। भगवान् यही बात यहाँ विस्तार से बतला रहे हैं कि संसार के किस-किस पदार्थ में वे किस-किस रूप में दिखलाई पड़ते हैं। वस्तुतः, भगवान् के ये दिखलाई देने वाले रूप ही उनकी विभूतियाँ हैं।

भगवान् ने अर्जुन के कहने से अपनी विभूतियों का वर्णन यहाँ विस्तार से किया है। वास्तव में, विस्तार से कहने पर भी भगवान् ने अपनी थोड़ी-सी ही विभूतियों का वर्णन, नमूने के तौर पर यहाँ किया है। सही बात तो यह है कि संसार के पदार्थों की तरह ही, भगवान् की विभूतियों को गिनना भी, आसान नहीं है।

संसार के सारे पदार्थ, चूँकि भगवान् से ही पैदा हुए हैं, अतः सभी में भगवान् का रूप है। जैसे मिट्टी से बने सभी पदार्थों में अर्थात् घड़े-मटके, सुराही, सकोरा और दीपक आदि में मिट्टी होती है, वैसे ही भगवान् से बने सब पदार्थों—मनुष्य, पशु पेड़ आदि में भी भगवान् हैं। इसी बात को, उदाहरण देकर भगवान् ने इस प्रकार समझाया है—

आदित्यों में मैं विष्णु हूँ। तेजवाले पदार्थों में मैं सूर्य हूँ। वेदों में मैं सामवेद हूँ। सब इन्द्रियों में मैं मन हूँ। रुद्रों में मैं शंकर हूँ। पर्वतों में मैं मेरु हूँ। जलाशयों में मैं समुद्र हूँ। स्थावर (न चलने वाले) पदार्थों में मैं हिमालय हूँ। सब वृक्षों में मैं अश्वत्थ (पीपल) हूँ। देवर्षियों में मैं नारद हूँ। धेनुओं में मैं कामधेनु हूँ। दैत्यों में मैं प्रह्लाद हूँ।

यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ॥१०/४१॥

पशुओं में मैं सिंह हूँ। अक्षरों में मैं 'अ' अक्षर हूँ। सब ऋतुओं में मैं बसन्त ऋतु हूँ। वृष्णि कुलवालों में मैं वासुदेव हूँ और पाण्डवों में मैं धनंजय हूँ।

पुरोहितों में मैं मुख्य बृहस्पति हूँ। सेनापतियों में मैं कार्त्तिकेय हूँ। महर्षियों में मैं भृगु हूँ। यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ। गन्धर्वों में मैं चित्ररथ हूँ। सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ। अश्वों (घोड़ों) में मैं उच्चैःश्रवा हूँ। हाथियों में मैं ऐरावत हूँ। मनुष्यों में मैं राजा हूँ। शस्त्रों में मैं वज्र हूँ। सर्पों में मैं वासुकि हूँ। पक्षियों में मैं गरुड़ हूँ। छन्दों में मैं गायत्री छन्द हूँ। महीनों में मैं अगहन का महीना हूँ। छल करने वालें में मैं जूआ हूँ। मुनियों में व्यास हूँ। कवियों में मैं उशना कवि हूँ। दमन करने वालों में मैं दण्ड हूँ। गोपनीय विषयों में मैं मौन हूँ। ज्ञानियों में मैं ज्ञान हूँ। आदि-आदि।

इस प्रकार अपनी विभूतियों का वर्णन करके अन्त में, भगवान् कहते हैं कि मेरी विभूतियों की कोई गिनती नहीं है। वास्तव में, मैं सभी चीजों का बीज हूँ। जैसे बीज से ही पेड़ बनता है, ऐसे ही यह सारा संसार मुझसे ही बना है। इसलिए इस संसार का बीज मैं ही हूँ। संसार में, जो भी अच्छे से अच्छा पदार्थ है, शक्ति वाला पदार्थ है, सुन्दर पदार्थ है, तेजवाला पदार्थ है और काम का पदार्थ है, वह मेरा ही रूप है; क्योंकि सारे संसार के सभी पदार्थों में मैं ही व्याप्त हूँ। बिना मेरे कुछ भी नहीं है।

✪

उवाच १७ : विस्मयकारी विश्वरूप *अध्याय ११*

भगवान् की विभूतियों में से एक-एक को और अलग-अलग सुनकर अर्जुन की इच्छा हुई कि वह भगवान् की सभी विभूतियों को एक ही साथ देख ले अर्थात् संसार के सभी देवों, ऋषियों, मनुष्यों, पशुओं, पर्वतों, समुद्रों, सूर्य, चन्द्रमा आदि को, भगवान् के एक ही रूप में देख ले। इसी को भगवान् का **'विश्वरूप'** कहा गया है। अर्थात् पूरे विश्व (संसार) को दिखलाने वाला रूप। वास्तव में, अर्जुन की यह इच्छा कुछ उसी प्रकार की थी, जिस प्रकार दुनियाँ की अच्छी-अच्छी चीजों को सुनकर कोई बच्चा अपने शिक्षक से यह कहने लगे कि ये सब चीजें मुझे यहीं बैठे हुए और इसी एक जगह पर दिखला दीजिये।

भगवान् ने अपने भक्त अर्जुन की बात मान ली। भगवान् ने, पहले, अर्जुन को 'दिव्य-दृष्टि' दी अर्थात् ऐसी समझ दी और देखने की ऐसी शक्ति दी, जिससे वह भगवान् के रूप में विश्व का रूप देख सके। उसके बाद, भगवान् ने अपना जो विश्वरूप दिखलाया, उसमें अर्जुन ने भगवान् के एक ही रूप में, एक ही जगह अनेक मुँह, अनेक आँखे, अनेक हाथ, अनेक पैर देखे। उसमें सभी देवता, सभी ऋषि और सभी मनुष्य दिखे। उसमें सभी चमकीले पदार्थ सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र भी एक साथ दिखे। इस चमक के कारण उस विश्वरूप ने सारे आकाश को भर दिया। ऐसा लगा जैसे हजारों सूर्य एक साथ निकल आये हों। उस विश्वरूप को देखकर देव-गन्धर्व, यक्ष और राक्षस सभी आश्चर्य कर रहे थे।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपद्-उत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥११/१२॥

उवाच १८ : डरावना विश्वरूप *अध्याय ११*

विस्मयकारी विश्वरूप के साथ ही भगवान् ने अपना डरावना विश्वरूप भी अर्जुन को दिखलाया। आकाश तक ऊँचे, तेज चमकवाले, फैले हुए बड़े मुँहवाले और भयानक दाढ़ोंवाले, काल-जैसे उस विश्वरूप को देखकर सभी बेचैन हो रहे थे। उसके डरावनेपन से तीनों लोक काँप रहे थे।

इतना ही नहीं, अर्जुन ने देखा कि सभी कौरव-पाण्डव भी अपने सभी साथी राजाओं के साथ, उस विश्वरूप के मुँह में अपने आपको ऐसे झोंक रहे हैं, जैसे जलती हुई आग में पतंगे अपने को झोंका करते हैं। ऐसी विनाशलीला को देखकर स्वयं अर्जुन भी घबरा गया और उसने भगवान् से पूछा कि यह आपका कौन-सा रूप है?

भगवान् ने बतलाया कि उनके विश्वरूप में तो सभी रूप मिले हुए हैं। वहाँ निर्माण भी हैं और विनाश भी हैं। यह उनका विनाशकारी कालरूप है। भगवान् ने अर्जुन को महसूस कराया कि महाभारत युद्ध का यह काल; वास्तव में, उन सब योद्धाओं का विनाशकाल है।

भगवान् ने कहा कि तू देख रहा है कि मैं यहाँ सभी का संहार करने में लगा हूँ। अब तू युद्ध में, अपने इन शत्रुओं को मार या मत मार; किन्तु, अब इन्हें बचना तो नहीं है। इन सबका काल आ गया है। इसलिए अच्छाई इसी में है कि अब तू उठ खड़ा हो और युद्ध कर। युद्ध में विजय प्राप्त करके तू यश कमा ले और जीते हुए राज्य को

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥११/३३॥

भोग। हे अर्जुन ! मैंने तेरे इन शत्रुओं को पहले ही मार दिया है, यह तू मेरे इस कालरूप में देख ही रहा है। अब इनको मारने में तो तुझे केवल निमित्त (बहाना) बनना है। बस, तू, अपने धर्म का पालन कर।

भगवान् से यह सब सुनकर अर्जुन ने यह मान लिया कि वास्तव में, संसार में भगवान् के अलावा और कुछ भी नहीं है। उसके बाद अर्जुन ने भगवान् की तरह-तरह से स्तुति की और भगवान् से प्रार्थना की कि वे अपना यह विश्वरूप समेट लें और पुनः वह सुन्दर, मनोहारी, अपना चतुर्भुज रूप ही उसे दिखलाने की कृपा करें।

भगवान् ने अर्जुन की प्रार्थना मानकर, अपना वही पहले वाला मनुष्य रूप उसे दिखला दिया और कहा कि हे अर्जुन! मेरा यह विश्वरूप बड़े-बड़े पुण्यों से भी दिखलाई नहीं देता है। तू मेरा प्यारा भक्त है, तेरी अनन्य भक्ति से प्रसन्न होकर ही, अपना यह विश्वरूप मैंने तुझे दिखलाया है। अब, तू इसी प्रकार मेरी (भगवान् की) भक्ति करता रह। संसार के सब प्राणियों के प्रति बैर छोड़कर बराबरी (समत्व भाव) का बर्ताव कर। इस प्रकार समत्व भाव से अपने धर्म का पालन करता हुआ अर्थात् कर्मयोगी हुआ तू मुझे ही प्राप्त हो जायेगा। फिर तुझे जन्म-मरण से छुटकारा मिल जायेगा।

✪

उवाच १९ : भगवान् के व्यक्तरूप की भक्ति *अध्याय १२*

भगवान् के दिखलाई न देनेवाले (अव्यक्त) स्वरूप के बजाय, भगवान् के दिखलाई देने वाले (व्यक्त) स्वरूप की उपासना सरल है, यह बात स्पष्ट करके भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तू मेरे व्यक्त रूप की उपासना कर, मेरे व्यक्तरूप की भक्ति में ही लग जा।

आगे व्यक्त रूप की भक्ति करने का उपाय भी भगवान् ने अर्जुन को बतलाया है। भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तू अपना ध्यान मेरे व्यक्त रूप में लगा। यदि शुरु में तेरा चित्त मुझमें नहीं लग पा रहा है तो तू उसकी भी चिन्ता छोड़ दे और बार-बार चित्त को मुझमें लगाने का अभ्यास करता रह। यदि अभी अभ्यास भी नहीं कर पा रहा है, तो अपना भजन-पूजन ही तू मेरे लिए करता रह। हाँ, यदि मेरे लिए भजन-पूजन भी तुझसे नहीं होता है, तो तू अपने दूसरे जो भी काम करता है, अपने उन कर्मों का फल ही तू मुझे दे दे, उससे भी तुझे शान्ति प्राप्त हो जायेगी।

इस प्रकार जब तुझे शान्ति मिल जायेगी तो तू किसी से भी द्वेष नहीं करेगा। तू अहंकार रहित हो जायेगा। तू कर्मयोगी बना रहेगा और अपने निश्चय पर अडिग रहेगा। तेरा आचार-विचार और व्यवहार पवित्र हो जायेगा। तुझे कोई दुःख नहीं सतायेगा। इस प्रकार के आचरण से तू धीरे-धीरे सभी सकाम कर्मों को छोड़कर निष्काम कर्मयोगी हो जायेगा। हे अर्जुन ! ऐसा भक्त मुझे बहुत ही प्यारा है।

✪

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२/१२॥

उवाच २० : क्षेत्र को समझो

अध्याय १३

बिना फल की इच्छा किये और बिना किसी लगाव के, अपने स्वाभाविक कर्म को करते हुए जो परमात्मा को जान लेता है, तो उसे मोक्ष मिल जाता है। अर्थात् फिर उस मनुष्य को न जन्म लेना पड़ता है और न मरना पड़ता है। मनुष्य परमात्मा को चाहे बुद्‍धि से पहचाने और चाहे हृदय से पहचाने। बस, परमात्मा को जानना और परमात्मा को मानना ही बड़ी बात है। बिना परमात्मा को जाने और बिना परमात्मा को माने हम परमात्मा के भक्त कभी नहीं हो सकते और न ही परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् ने पहले हमें बतलाया है कि जैसे माला के सभी मोतियों में धागा पुरा हुआ रहता है, उसी प्रकार संसार के सभी पदार्थों में परमात्मा पुरा हुआ है।

अब, भगवान्, बतलाते हैं कि परमात्मा की एक शक्ति है। उस शक्ति का नाम है—प्रकृति। परमात्मा की इस प्रकृति नाम की शक्ति से ही संसार के सारे पदार्थ पैदा होते हैं।

भगवान् बतलाते हैं कि जैसे जीवात्मा और शरीर—हमारे में ये दो तत्त्व हैं, वैसे ही सृष्टि में क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र—ये दो तत्त्व हैं। मनुष्य को देखें; तो मनुष्य की देह क्षेत्र है और मनुष्य का जीवात्मा क्षेत्रज्ञ है। सारी सृष्टि (संसार) को देखें, तो सारी जड़ सृष्टि क्षेत्र है और सृष्टि में जो चेतन सृष्टि है, वह सब क्षेत्रज्ञ है। अर्थात् संसार के सारे जड़ पदार्थों की गिनती क्षेत्र में होती है और ये सब पदार्थ नाश होने वाले है। संसार के सारे चेतन

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥१३/२०॥

पदार्थ क्षेत्रज्ञ हैं और वे कभी नाश होने वाले नहीं हैं। संक्षेप में, जो जड़ है, वह नश्वर है और वह क्षेत्र है। जो चेतन है, वह अनश्वर है और वह क्षेत्रज्ञ है।

क्षेत्र का परिचय देते हुए भगवान् ने बतलाया है कि पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु और आकाश—ये ५ महाभूत क्षेत्र हैं। प्रकृति, जिससे ये पाँचों महाभूत पैदा होते हैं, वह भी क्षेत्र है। आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा—ये ५ ज्ञान की इन्द्रियाँ और हाथ, पैर, मुख गुदा और उपस्थ (जननेन्द्रिय) ये ५ कर्म की इन्द्रियाँ भी क्षेत्र हैं। बुद्‍धि, अहंकार और मन भी क्षेत्र हैं। ज्ञान की पाँचों इन्द्रियों के ५ विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध (महसूस होने वाले तत्त्व) भी क्षेत्र हैं। इसी के साथ इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, ये व्यापार (कार्य) भी क्षेत्र ही हैं। ये गिनाये गये तत्त्व और इनके साथ कुछ अन्य तत्त्व मिलकर—ये ३१ तत्त्व हैं, जो क्षेत्र हैं। ये सभी तत्त्व संसार के बनाने में काम आने वाले हैं।

उवाच २१ : क्षेत्रज्ञ को समझो *अध्याय १३*

क्षेत्र + ज्ञ (जानना)= क्षेत्रज्ञ वह है, जो पहले बतलाये गये क्षेत्र को जानता है। अर्थात् पहले जो ३१ तत्त्व (पदार्थ) गिनाये गये हैं, उनको जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। क्षेत्रज्ञ ही क्षेत्र का स्वामी है। चेतन है। वह परमात्मा है। वह अपनी इच्छा के अनुसार क्षेत्र का उपयोग वैसे ही करता है, जैसे कोई किसान अपने खेत (क्षेत्र) का उपयोग करता है।

यह क्षेत्रज्ञ (ब्रह्म, परमात्मा) अनादि है। वह न सत् (रहने वाला) है, और न असत् (न रहने वाला) है। सब तरफ उसके हाथ, पैर, आँख, नाक, कान और मुँह हैं। वह सभी इन्द्रियों वाला भी है, और बिना इन्द्रियों का भी है। वह चर भी है और अचर भी है। वह सगुण भी है और निर्गुण भी है। वह दूर भी है और पास भी है। वह सब में व्याप्त भी है और आँखों से दिखलाई भी नहीं देता है। वह एक भी है और सब में बँटा हुआ भी है। वही ज्ञान है, वही जानने के योग्य भी है और वही जानने का फल भी है। संक्षेप में, वह अनिर्वचनीय है अर्थात् उसको कहकर नहीं बतलाया जा सकता।

भगवान् बतलाते हैं कि क्षेत्र (देह) और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) को जान लेने पर अर्थात् देह (जड़ पदार्थ) की नश्वरता को और परमात्मा (चेतन तत्त्व) की अनश्वरता को जानकर मनुष्य अहिंसक और क्षमाशील बन जाता है। मनुष्य सरलता और परिवत्रता को अपना लेता है। उसमें अहंकार नहीं रहता है। वह भलाई-बुराई में एक-सा बना रहता है। वह

यावत् संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि भरतर्षभ: ॥ गी० १४/२६ ॥

अपना कर्म निष्कामभाव से और अनासक्त होकर करता है। वह अनन्य भाव से परमात्मा की भक्ति करता है।

आगे भगवान् कहते हैं कि क्षेत्र को प्रकृति और क्षेत्रज्ञ को पुरुष भी कहा जाता है। सारे जड़ पदार्थ प्रकृति ही हैं। जो चेतन है वह पुरुष हैं। अर्थात् क्षेत्र, प्रकृति और जड़ (पदार्थ) यह एक इकाई है और क्षेत्रज्ञ, पुरुष और चेतन (पदार्थ) यह दूसरी इकाई है। सारी सृष्टि इन्हीं दो तत्त्वों से बनी है। सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण भी प्रकृति के ही हैं।

संसार के सभी कर्म प्रकृति ही करती है। पुरुष प्रकृति के साथ रहकर उन कर्मों का फल भोगता हैं। मनुष्य की देह में पुरुष, जीवात्मा रूप में रहता है। मनुष्य की देह प्रकृति है। इसी प्रकार संसार में परमात्मा पुरुष है और सभी जड़ पदार्थ (तत्त्व) प्रकृति हैं।

भगवान् बतलाते हैं कि संसार के सभी जड़ और चेतन पदार्थों का निर्माण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ (प्रकृति और पुरुष) के संयोग से ही होता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जानने के साथ ही जो ब्रह्म को जान लेता है, वही वास्तव में ज्ञानी है। सब पदार्थों के नष्ट हो जाने पर भी, ब्रह्म का कभी नाश नहीं होता है। ऐसे ब्रह्म को जो जान लेता है, वह सब में ब्रह्म को और ब्रह्म में सबको देखता है। वह समभाव से बरतता है। वही परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है।

✪

उवाच २२ : सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों को जानो *अध्याय १४*

भगवान् श्रीकृष्ण ने यहाँ ज्ञान का वर्णन विस्तार से किया है। वे बतलाते हैं कि प्रकृति से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति होती है। पुरुष (परमात्मा) सब पदार्थों को उत्पन्न करने वाला है। प्रकृति के साथ मिलकर पुरुष ही सब पदार्थों को पैदा करता है और सब पदार्थ प्रकृति में ही उत्पन्न होते हैं। यह ऐसे ही है, जैसे पिता सन्तान पैदा करता है और माता में सन्तान पैदा होती है।

अब भगवान् बतलाते हैं कि एक प्रकृति से ही संसार के भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ किस प्रकार पैदा होते हैं। वे कहते हैं कि प्रकृति में सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण रहते हैं। इन तीनों गुणों के मिलने से ही दुनियाँ के सभी पदार्थ बनते हैं। अलग-अलग पदार्थों में सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों की मात्रा के कम और अधिक होने के कारण ही दुनियाँ के पदार्थों में भेद हो जाता है। जब सत्त्व गुण अधिक होता है तो अच्छे जीवों की या अच्छे मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। जब तमोगुण अधिक होता है तो बुरे पदार्थों की, बुरे जीवों की या बुरे मनुष्यों की उत्पत्ति होती है।

तीनों गुणों की क्या-क्या विशेषताएँ हैं, इसको भगवान् ने विस्तार से बतलाया है। वे बतलाते हैं कि सत्त्व गुण निर्मल होता है। साफ-सुथरा होता है। वह जहाँ होता है, वहाँ प्रकाश अर्थात् रोशनी होती है। वहाँ कोई कमी नहीं होती और जिस प्राणी में सत्त्व गुण होता है, वह अपने को सुखी मानता है और उस सुख से वह अलग होना नहीं चाहता है। ऐसा प्राणी ज्ञानवान् अर्थात् समझदार होता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥१८/४०॥

जहाँ रजोगुण होता है, वहाँ मोहमाया और लगाव उत्पन्न हो जाता है। प्राणी कुछ न कुछ भाग दौड़ करता ही रहता है और उसकी कुछ न कुछ पाने की इच्छा हमेशा बनी ही रहती है। आज का युग रजोगुण प्रधान ही दिखलाई देता है।

तमोगुण से नासमझी पैदा होती है। उससे प्राणी मूढ़ता या मूर्खता को प्राप्त हो जाते हैं। तमोगुण वाला मनुष्य आलसी हो जाता है। सदा ही सोता रहता है। किसी भी काम को करना नहीं चाहता है।

यहाँ एक समझने की बात यह भी है कि ये तीनों ही गुण आपस में झगड़ते रहते हैं। कभी सत्त्व गुण का जोर बढ़ जाता है और रजोगण और तमोगुण हल्के पड़ जाते हैं। कभी रजोगुण बढ़ जाता है और सत्त्व गुण और तमोगुण हल्के पड़ जाते है। इसी प्रकार कभी तमोगुण बढ़ जाता है और सत्त्वगुण और रजोगुण हल्के पड़ जाते हैं। जैसा पहले भी बतलाया जा चुका है, सत्त्वगुण के बढ़ने पर अच्छाई बढ़ जाती है। रजोगुण के बढ़ने पर लोभ-लालच बढ़ जाता है और तमोगुण के बढ़ने पर निठल्लापन और मूर्खता बढ़ जाती है।

सत्त्वगुण के बढ़ने पर जब मनुष्य मरता है तो उसे अच्छा लोक मिलता है। उसे अच्छी गति मिलती है। रजोगुणी दशा में मरने पर दुनियाँदारी में जन्म मिलता है और तमोगुणी दशा में मरने पर नीची योनि में जन्म मिलता है।

✪

उवाच २३ : गुणातीत को पहचानो

अध्याय १४

अन्त में, भगवान् कहते हैं कि इन तीनों गुणों को अच्छी प्रकार जानने वाला मनुष्य यह बात अच्छी प्रकार जान लेता है कि दुनियाँ में जो भी कुछ होता है, वह इन गुणों से ही होता है। ये गुण ही कर्मों को करने वाले हैं। मनुष्य का जीवात्मा तो केवल देखने वाला ही है। यह जानने वाले लोग इन तीनों गुणों को पार कर जाते हैं। तब उन्हें 'त्रिगुणातीत' कहा जाता है।

ऐसे 'त्रिगुणातीत' मनुष्य सदा, सबके साथ समानता का व्यवहार करते हैं। वे खुद भी न सुख में लगाव रखते हैं न दुखसे भागते हैं। जो भी करना पड़े, उसे करते हैं। जो भी भरना पड़े, उसे भरते हैं। न अच्छा मानते हैं, न बुरा। न किसी के दोस्त होते हैं, न किसी के दुश्मन। उनके लिए मिट्टी और सोने में कोई फर्क नहीं होता है। अच्छे-बुरे में, भलाई-बुराई में, मान और अपमान में वे सदा एक-से ही रहते हैं। क्योंकि, वे जानते हैं कि जो कुछ भी होता है या नहीं होता है, वह सब कुछ गुणों से ही होता है। खुद उनके करने से न कुछ होता है और न बिना किये कुछ रहता है। वास्तव में, ऐसे लोग मन से किसी भी काम में लगाव या अलगाव नहीं रखते हैं। ऐसे व्यक्ति ही 'गुणातीत' कहलाते है।

ऐसा गुणातीत कोई मनुष्य, जब एकमन होकर परमात्मा में अपना मन लगाता है अर्थात् परमात्मा की भक्ति करता है तो वह स्वयं ब्रह्म—जैसा होने के योग्य हो जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्म-मृत्यु-जरा-दु:खैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥१४/२० ॥

उवाच २४ : अनोखा है यह अश्वत्थ

अध्याय १५

भगवान् श्रीकृष्ण अब यहाँ एक अनोखे वृक्ष का वर्णन करते हैं। उस वृक्ष का नाम है—अश्वत्थ। अश्वत्थ अर्थात् पीपल। वे बतलाते हैं कि इस अश्वत्थ वृक्ष की जड़ तो ऊपर है और शाखाएँ नीचे हैं।

वस्तुत:, जड़ ऊपर और शाखाएँ नीचे होना ही इस अश्वत्थ वृक्ष का अनोखापन है। क्योंकि, सामान्यतया सभी पेड़, जो हमारे देखने में आते हैं, उनकी जड़, नीचे, और शाखाएँ तथा पत्ते आदि ऊपर होते हैं। किन्तु, यहाँ जिस वृक्ष का वर्णन, भगवान् श्रीकृष्ण ने किया है, वह तो दुनियाँ के दूसरे वृक्षों से उल्टा ही है।

वास्तव में, यह अश्वत्थ एक आध्यात्मिक वृक्ष है अर्थात् आत्मा-परमात्मा की बात समझाने वाला वृक्ष है। भगवान् ने स्वयं भी कहा है कि ऐसा वृक्ष, दुनियाँ में दिखलाई नहीं पड़ता है। कोई भी वृक्ष हो, वह अपनी जड़ से पैदा होता है अर्थात् दुनियाँ में हम जिन वृक्षों को देखते हैं वे अपनी जड़ जमीन में, नीचे की ओर जमाये रखते हैं, फिर उससे जो पेड़ का तना निकलता है, वह ऊपर की ओर निकलता है। फिर उस तने में शाखाएँ भी ऊपर ही निकलती हैं। यह बात, संसार में दिखलायी देने वाले पेड़ों की है। हम अपने आस-पास जो पीपल (अश्वत्थ) का पेड़ देखते हैं, वह अश्वत्थ (पीपल) का वृक्ष ऐसा ही होता है।

ऊर्ध्वमूलम् अध:शाखम् अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१५/१ ॥

किन्तु, यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस 'अश्वत्थ' वृक्ष की बात कही है, वह साधारण वृक्ष न होकर भगवान् से या परमात्मा से सम्बन्ध रखने वाला वृक्ष है। उसकी जड़ तो भगवान् हैं और वे ऊपर, स्वर्ग में रहते हैं। ऊपर रहने वाले भगवान् (जड़) से नीचे रहने वाली दुनियाँ (शाखाएँ) पैदा होती है। आगे भगवान् कहते हैं कि जैसे सामान्य पेड़ को कुल्हाड़े से काटा जाता है, वैसे ही, संसार नाम वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को अनासक्ति (वैराग्य) नामके कुल्हाड़े से काटकर, उस परम ब्रह्म को प्राप्त कर लेना चाहिए जहाँ से फिर लौटना नहीं होता है। तभी मोक्ष मिल पाता है।

उवाच २५ : परमात्मा का ही अंश है–जीवात्मा *अध्याय १५*

जीवात्मा का परिचय देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि संसार में मनुष्य की देह में, मेरा (परमात्मा का) ही अंश जीवात्मा रूप में आता है। जीवात्मा रूप में मनुष्यों की देह में रहता हुआ वह मेरा अंश आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियों द्वारा संसार के भोगों को भोगता है और फिर मृत्यु होने पर इन्द्रियों को साथ लेकर मनुष्य-देह से वैसे ही बाहर निकल जाता है, जैसे फूल को उसी की जगह छोड़कर, केवल उसकी सुगन्ध को साथ लेकर हवा वहाँ से निकल जाती है। जीव के इस प्रकार देह में आने को और जीव के इस प्रकार देह से जाने को, ज्ञानी लोग ही समझ पाते हैं। सामान्य लोग इसे ही जन्म होना और मृत्यु होना कहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि सूर्य में जो तेज और प्रकाश है, वह उसे मुझ (परमात्मा) से ही प्राप्त होता है। अपनी जिन शीतल किरणों से चन्द्रमा पेड़-पौधों को बढ़ाता है, वे भी उसे परमात्मा से ही मिलती हैं। अग्नि में जो ताप है और जलाने की शक्ति है, वह भी उसे परमात्मा से ही मिली है। इसके अतिरिक्त 'वैश्वानर' की वह अग्नि, जो प्राणियों के पेट में, उनके खाये हुए अन्न को पचाने का काम करती है, वह भी परमात्मा से ही प्राणियों को मिलती है।

तात्पर्य यह है कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदि में परमात्मा की ही चेतना शक्ति है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥१५/७॥

आगे और भी अधिक ज्ञान कराते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि संसार के सभी पदार्थों में मैं (परमात्मा) ही समाया हुआ हूँ। वस्तुतः, मैं ही सब प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ रहता हूँ। संसार में जानने योग्य भी अकेला मैं ही हूँ।

अब पुरुषोत्तम का परिचय देते हुए भगवान् कहते हैं कि इस संसार में 'क्षर' और 'अक्षर' नामवाले दो पुरुष हैं। तात्पर्य हैं कि संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं—१–क्षर और २–अक्षर। 'क्षर' से तात्पर्य है वे पदार्थ जो नाशवान् हैं। और अक्षर से तात्पर्य है वे पदार्थ जो नाशवान् नहीं हैं। क्षर को जीवात्मा और अक्षर को परमात्मा भी कह सकते हैं। जैसे मनुष्य-देह में जीवात्मा का स्थान है, वैसे ही सृष्टि-देह में परमात्मा का स्थान है। किन्तु, इन दोनों-क्षर और अक्षर से भी बढ़कर एक पुरुष और है, जिसके अधिकार में क्षर और अक्षर—ये दोनों पुरुष रहते हैं। इन दोनों से बढ़कर होने के कारण ही, वह उत्तम पुरुष अथवा 'पुरुषोत्तम' कहलाता है।

अन्त में, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो उस 'पुरुषोत्तम' को जान लेता है, और सर्वभाव से अर्थात् सब प्राणियों के साथ समत्वभाव से व्यवहार करता है, उसका जीवन सफल हो जाता है। अर्थात् वह जीवन के लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त कर लेता है।

उवाच २६ : दैवी सम्पत् और आसुरी सम्पत् — *अध्याय १६*

भगवान् यह बतला चुके हैं कि संसार की रचना प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्व, रज और तम से होती है। संसार के सभी जीवों को बनाने वाले भी ये तीनों गुण ही हैं। यह भी बतलाया जा चुका है कि सत्त्व, रज और तम गुणों में से कोई एक गुण कम या अधिक होने पर ही अच्छे या बुरे मनुष्य बनते हैं।

अब यह बतलाते हैं कि सत्त्व गुण की अधिकता वाले मनुष्य दैवी सम्पदा वाले कहलाते हैं। और, जिन लोगों में तमोगुण की प्रधानता होती है, वे राक्षसी या आसुरी सम्पदा वाले कहलाते हैं। यहाँ 'सम्पदा' शब्द का अर्थ विशेषता या खासियत ही समझना चाहिए। कर्म करने की प्रवृत्ति (राजस् गुण) दोनों में ही हो सकती है। अतः, मनुष्यों के दैवी सम्पदा वाले और आसुरी सम्पदा वाले—ये दो ही भेद किये हैं। जब राजस् गुण का झुकाव सत्त्व गुण की तरफ होता है तो दैवी सम्पदा वाले लोग बनते है और जब राजस् गुण का झुकाव तमोगुण की तरफ होता है तो आसुरी सम्पदा वाले लोग बनते हैं।

दैवी सम्पदा वाले और आसुरी सम्पदा वाले लोग—ये दो तरह के लोग तो यहाँ बतला दिये हैं। किन्तु, वास्तव में देखा जाय तो इन दोनों तरह के लोगों में गिने जाने वाले लोगों के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक लोग हैं, जो इन दोनों भेदों के बीच में, कहीं रखे जा सकते हैं और जो सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों के कम या अधिक होने से बनते हैं। उदाहरण के लिए दूध और पानी—इन दोनों को मिलायें, तो एक बूँद दूध या एक बूँद पानी के कम या अधिक होने पर, बिल्कुल एक-जैसा ही दूध या पानी नही बनता। कुछ भिन्न तरह का ही बनता है। इसी प्रकार दैवी सम्पत्ति के स्वभाव वाले और आसुरी सम्पत्ति के स्वभाववाले, मनुष्यों के

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥१६/२१॥

अलावा भी दुनियाँ में बहुत-सारे ऐसे लोग हैं, जो न तो पूरी तरह से दैवी सम्पदा वाले स्वभाव के हैं और न ही पूरी तरह से आसुरी सम्पदा के स्वभाव वाले हैं। फिर भी, भगवान् ने यहाँ साफ-साफ समझाने के लिए केवल दैवी-सम्पदा वाले और आसुरी सम्पदावाले—इन दो प्रकार के मनुष्यों की ही विशेषताएँ, उदाहरण के लिए, बतलायी है। इन्हीं को जानकर, हम अपनी बुद्धि से शेष मनुष्यों को जानने का प्रयत्न कर सकते हैं।

दैवी सम्पदा के गुणों में यहाँ अभय, ज्ञान, दान आदि २६ गुण गिनाये गये हैं। इन गुणों से मनुष्य के सात्त्विक रूप का परिचय भली-भाँति हो जाता है। इसी प्रकार आसुरी सम्पदा के भी दम्भ, दर्प, क्रोध और अज्ञान आदि ६ दुर्गुण ही यहाँ विशेष रूप से कहे गये हैं।

इन दोनों प्रकार के गुणों और दुर्गुणों को बतलाकर भगवान् कहते हैं कि दैवी सम्पदा के गुणों से मोक्ष मिलता है और आसुरी सम्पदा के दुर्गुण जन्म-मरण के चक्र में डालने वाले होते हैं।

आसुरी सम्पदा वाले लोग नहीं जानते कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है। वे यह भी नहीं जानते हैं कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिए। वे तो जगत् को असत्य और अनीश्वर मानते हैं। वे वासनाओं की पूर्ति को ही जगत् का उद्देश्य मानते हैं।

आगे आसुरी सम्पदा वाले लोगों के आचार-विचार का वर्णन विस्तार से करते हुए भगवान् बतलाते हैं कि ये लोग निर्दयी होते हैं और संसार को हानि पहुँचाते हैं। ये लोग घमण्डी और मूर्ख होते हैं। ये मनमाने ढंग से व्यवहार करते हैं। ये समझते हैं कि जिन्दगीभर इन्हें सुख ही मिलता रहेगा। तरह-तरह की लालसा वाले ये लोग मोहमाया में फँसे रहते हैं। ये बेईमानी से धन इक्ट्ठा करते हैं। रोज-रोज नई चीजें चाहते रहते हैं। और अपने आप ही अपनी बड़ाई करते रहते हैं। खुद ही अपने को बलवान् समझते हैं और अपनी झूठी जीत का बखान करते रहते हैं। ये अपने जैसा किसी को नहीं समझते। ऐसे ये

लोग, अन्त में, नरक में ही जाते हैं। ये अपनी अकड़ में रहते हैं और यज्ञ आदि कार्य भी बस, कहने के लिए ही करते हैं। श्रद्धा-जैसी भावना इनमें नहीं होती है। घमण्ड में चूर होकर मैं-तू की भावना से बर्ताव करते हैं। ये अपने-पराये के चक्कर में पड़े हुए रहते हैं। और ईर्ष्या-द्वेष में फँसे रहते हैं।

भगवान् कहते हैं। कि ऐसे आसुरी स्वभाव वाले लोगों को मैं सदा आसुरी योनि में ही भेजता हूँ। वहाँ पड़े रहकर ये लोग फिर कभी मुझे प्राप्त न करके, नीची गति को ही प्राप्त करते रहते हैं।

आखिर में, भगवान् सभी मनुष्यों को सावधान करते हैं और कहते हैं कि काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों सचमुच में नरक का द्वार हैं। अर्थात् इनसे मनुष्य केवल नरक में ही पहुँचता है। अतः, हरेक आदमी को काम, क्रोध और लोभ से बचना चाहिये। इन तीनों को छोड़कर मनुष्य, सचमुच, अपना भला करता है और आखिर में उसे अच्छी ही गति मिलती है। अर्थात् या तो उसे स्वर्ग मिलता है या मोक्ष मिलता है।

ऊपर किये गये आसुरी सम्पदा वाले लोगों के स्वभाव के वर्णन से ही ज्ञात हो जाता है कि दैवी सम्पदा वाले लोगों का स्वभाव कैसा होता है। अर्थात् दैवी स्वभाव वाले मनुष्यों में ऊपर के दुर्गुण तो होते ही नहीं है। इसके विपरीत उनमें दया, क्षमा, नम्रता, घमण्ड का न होना, दूसरों के साथ समानता का बर्ताव करना, सुख प्राप्त करके घमण्ड न करना, अधिक लालसा न रखना, झूठी कामनाएँ न करना, खुद अपनी बड़ाई न करना आदि-आदि सभी अच्छे गुण होते हैं। वे भगवान् की भक्ति करते हैं और अन्त में अच्छी गति प्राप्त कर लेते हैं।

अपनी आत्मा की स्वाधीनता का उपयोग कर प्रकृति से प्राप्त आसुरी स्वभाव को धीरे-धीरे सुधारने का (अभ्यास) प्रयास करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है।

उवाच २७ : जैसा मनुष्य वैसी ही उसकी श्रद्धा *अध्याय १७*

भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ बतलाते हैं कि केवल श्रद्धा से ही भजन-पूजन और यजन करने वालों की वह श्रद्धा कैसी होती है अर्थात् उनकी वह श्रद्धा सात्त्विक होती है या राजसिक होती है या तामसिक होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! प्रत्येक मनुष्य की श्रद्धा वैसी ही होती है, जैसा उस मनुष्य का मन होता है और किसी भी मनुष्य का मन वैसा ही होता है, जैसा स्वयं वह मनुष्य होता है।

वस्तुतः, कोई भी मनुष्य जब जन्म लेता है, तो उससे पहले के सभी जन्मों के संस्कारों के साथ ही, उसका जन्म होता है। अपने पहले जन्मों में उसने अच्छे-बुरे, जैसे भी कर्म किये हैं और उन कर्मों से उसके अच्छे-बुरे जैसे भी संस्कार बने हैं, वैसे ही अच्छे-बुरे गुण उसमें इस जन्म में आ जाते हैं। उसके पिछले जन्मों के संस्कारों से ही उसका मन बनता है और जैसा मन होता है वैसी ही उसकी श्रद्‌धा भी होती है। सात्त्विक संस्कारों से मनुष्य सात्त्विक बनता है। उसका मन भी सात्त्विक होता है और उसकी श्रद्धा भी सात्त्विक होती है। इसी प्रकार राजसिक संस्कारों से मनुष्य राजसिक बनता है। उसका मन भी राजसिक होता है और उसकी श्रद्धा भी राजसिक होती है। ऐसे ही तामसिक संस्कारों से मनुष्य तामसिक बनता है। उसका मन भी तामसिक होता है और उसकी श्रद्धा भी तामसिक होती है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! किसी मनुष्य की श्रद्धा कैसी है, इसको जानने से पहले यह जानना जरूरी है कि वह मनुष्य स्वयं कैसा है। और, उस मनुष्य को जानने के लिए हमें यह देख लेना चाहिए कि वह मनुष्य—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्‌धा भवति भारत।
श्रद्‌धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्‌धः स एव सः ॥१७/३॥

१. पूजा-उपासना अथवा भजन-पूजन और यजन किसका करता है। देवताओं का गन्धर्वों का या भूत-प्रेतों का।

२. वह आहार (भोजन, खान-पान) कैसा लेता है। अर्थात् खाने-पीने की कैसी चीजें उसे पसन्द हैं। स्वादिष्ट और पौष्टिक या केवल चटपटी या बासी और झूठन वाली।

३. जब वह यज्ञ करता है, तो उस समय उसके मन में कैसे विचार होते हैं? उसकी इच्छाएँ कैसी होती है? उस यज्ञ से वह कौन-सा फल चाहता है?

४. वह दान कितना करता है, किसको करता है और दान के बदले में कुछ चाहता है, या नहीं और चाहता है तो क्या चाहता है?

५. वह तप करता है, तो कैसा तप करता है और उस तप करने में उसकी भावना क्या है? अपने को संयम में रखने के लिए तप करता है या दुनियाँ को दिखलाने के लिए ढोंग करता है। मन की शान्ति के लिए तप करता है कि दूसरों को परेशान करने के लिए तप करता है?

६. इसी प्रकार उसका ज्ञान सात्त्विक है या राजसिक है या तामसिक है।

७. वह सात्त्विक कर्म करता है कि राजसिक या तामसिक।

८. वह सात्त्विक कर्ता है कि राजसिक है कि तामसिक है।

९. उसकी बुद्धि कैसी है? सात्त्विक, राजसिक या तामसिक।

१०. उसकी धृति अर्थात् उसमें धैर्य कैसा है और अन्त में, वह

११. कैसे सुख की इच्छा करता है। अर्थात् वह कैसे रहना चाहता है? शुरू में सुखी और बाद में दुःखी या पहले दुःखी और बाद में सुखी। आदि-आदि।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कुछ थोड़ी-सी बातों के विषय में यहाँ नमूने के तौर पर बतलाया है। वास्तव में, मनुष्य को पहचानने के लिये और भी बहुत-सी बातें हैं, जिनसे यह जाना जा सकता है कि कोई मनुष्य कैसा है? अर्थात् सत्त्विक है या राजसिक है. या तामसिक है।

संक्षेप में, मनुष्य जैसा होता है, वैसी ही उसकी श्रद्धा होती है। हाँ, यह बात भी यहाँ समझ लेनी चाहिये कि यह ठीक है कि हर मनुष्य का अपना स्वभाव होता है, जो उसे उसके संस्कारों से मिलता है, किन्तु यदि हम जानते हैं कि हमारा स्वभाव सात्त्विक नहीं है और हम उसे सात्त्विक बनाना चाहते हैं, तो हमें तामसिक और राजसिक आहार, यज्ञ, दान और तप आदि से अपना मन हटाकर सात्त्विक आहार, यज्ञ, दान और तप आदि में अपना मन लगाने की कोशिश करनी चाहिए। धीरे-धीरे अभ्यास से हमारा मन बुरे कामों से हटकर अच्छे कामों में लगने लगेगा।

इस प्रकार जब हमारा मन सात्त्विक हो जायेगा तो हमारी श्रद्धा भी सात्त्विक हो जायेगी और हम ब्रह्म की उपासना से ब्रह्म बन जायेंगे।

उवाच २८ : संन्यासी कौन है और त्यागी कौन है? *अध्याय १८*

अपने उपदेश के उपसंहार में, यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बतलाया है कि संन्यास किसे कहते हैं और त्याग किसे कहते हैं। भगवान् के कहने के अनुसार मनुष्य जितने भी कर्म करता है। उनके दो भेद होते हैं—

१. **काम्य कर्म** अर्थात् वे कर्म जो किसी कामना या इच्छा से किये जाते हैं और जिनसे फल की आशा की जाती है। जैसे पुत्रेष्टि यज्ञ। यह यज्ञ पुत्र प्राप्त करने की कामना से किया जाता है। यह काम्य कर्म है।

२. **निष्काम कर्म** अर्थात् वे कर्म जिन्हें, किसी भी फल की कामना (फल) छोड़कर किया जाता है। जैसे अपने लिए कोई भी फल न चाहता हुआ ही कोई व्यक्ति यज्ञ, दान या तप आदि करे। यह निष्काम कर्म है।

संक्षेप में, भगवान् कृष्ण बतलाते हैं कि 'संन्यास' का अर्थ है—काम्य कर्मों को बिल्कुल ही छोड़ देना और 'त्याग' का अर्थ है कि जो कर्म करना हो, उसके फल को छोड़ देना।

इससे यह समझ लेना चाहिए कि गीता के अनुसार कर्मयोगी भी संन्यासी ही है, क्योंकि वह भी निष्काम कर्म करता है। भले ही वह संन्यासी–जैसे गेरुवे वस्त्र नहीं पहनता है और न ही वह सभी कामों को छोड़ता है, तो भी वह मन से संन्यास का पालन सच्चाई से करता है। वह यज्ञ, दान और तप को कभी नहीं छोड़ता, क्योंकि इनका त्याग

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥१८/२ ॥

न करके, इन्हें समाज की भलाई के लिए अवश्य ही करते रहना चाहिए। ये काम लोगों के भले के लिए ही किये जाते हैं और इन्हें करने वाले कर्मयोगी का चित्त, इनको करने से शुद्ध होता है। हाँ, इन्हे बिना किसी आसक्ति के और फल की आशा के बिना ही करना चाहिए।

वास्तव में, कर्म में कोई बुराई नहीं होती है, बल्कि उस किये गये कर्म के फल की आशा में ही बुराई होती है। इसी से मनुष्य कर्मों के बन्धन में बँधता है और जन्म-मृत्यु के चक्र से बाहर नहीं निकल पाता है। इसलिए सभी कर्मों को ईश्वर का कर्म मानते हुए, अवश्य ही करते रहना चाहिए। इससे सृष्टि का चक्र भी चलता रहता है। और, फल की आशा छोड़ देने से कर्म का बन्धन भी छूट जाता है। फलस्वरूप, मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

भगवान् कहते हैं कि अपने स्वभाव के अनुसार जो कर्म मिला है अर्थात् जो हमारा नियत कर्म है, आसक्ति (मोह) और फल की आशा छोड़कर उसे करना ही सात्त्विक त्याग है। कोई भी देहधारी कर्मों को बिल्कुल तो छोड़ ही नहीं सकता है। इसीलिए सच्चा त्यागी और सच्चा संन्यासी न तो नापसन्द काम से परेशान होता है और न पसन्द आने वाले काम से चिपटा रहता है। वह तो बस, फल की आशा छोड़कर कर्म करता है।

साथ ही, भगवान् यहाँ बतलाते हैं कि कर्म के करने में अकेला मनुष्य ही जिम्मेदार या कारण नहीं होता है। मन, वाणी और शरीर से जो भी कर्म किया जाता है, उसमें कर्ता के अतिरिक्त अन्य भी अनेक कारण होते हैं। उदाहरण के लिए, खेत में फसल उगाने के लिए केवल किसान ही नहीं, धरती (खेत), बीज, पानी और खाद तथा खेती के यन्त्र (हल, बैल या ट्रैक्टर) भी होने चाहिएँ। इसमें किसान का भाग्य (दैव) भी काम आता है।

इसलिए केवल कर्ता को ही, अपने को कर्म का करने वाला नहीं मान लेना चाहिए। इसी प्रकार कर्म के फल का होना भी केवल कर्ता पर ही निर्भर नहीं होता है।

वस्तुतः, मनुष्य जब अपना स्वार्थ छोड़कर कोई कर्म करता है, तो उस काम से होने वाला लाभ सभी प्राणियों का लाभ बन जाता है। इसी को समानता का भाव या समभाव कहते हैं। इस प्रकार की समानता की भावना से किया हुआ कोई भी काम कभी बुरा नहीं होता, क्योंकि, वह शुद्ध चित्त से किया जाता है।

संक्षेप में, गीता कहती है कि अपने स्वभाव (स्वधर्म) के अनुसार जो कर्म मिल जाये, अहंकार न करते हुए और फल की आशा छोड़कर उसे करना ही सच्चा सात्त्विक संन्यास है या सच्चा सात्त्विक त्याग है। कर्मों को बिल्कुल ही न करना सच्चा संन्यास नहीं है।

उवाच २९ : वर्ण-व्यवस्था को समझो *अध्याय १८*

भगवान् बतलाते हैं कि हमारे यहाँ जो चार वर्णों की व्यवस्था, समाज में मानी गयी है, वह व्यवस्था भी प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्व, रज और तम के कारण ही मानी गयी है। चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र का निर्धारण (तय) होना भी प्रकृति के गुणों के आधार पर ही माना गया है।

भगवान् के अनुसार चारों वर्णों के मनुष्यों को अपने-अपने वर्ण के अनुसार, जो भी कर्म मिले हैं, उन्हें उन कर्मों को बिना आसक्ति, बिना किसी कामना से और बिना किसी फल की इच्छा के, ईश्वर के कर्म मानकर, ईश्वर के लिए ही करते रहना चाहिए। ऐसा करना, उनकी पूजा-अर्चना जैसा ही है, जिसे वे विराट् (बड़े) भगवान् के लिए ही करते हैं। भगवान् कहते हैं कि यदि क्षत्रिय वर्ण के आदमी को शत्रु से लड़ते हुए, हत्या की बुराई भी अपने कर्म में दिखलाई पड़े, तब भी उसे वह कर्म छोड़कर कोई दूसरा कर्म नहीं अपनाना चाहिए। बस , उसे फल की आशा का त्याग करके, बिना किसी स्वर्थ के वही युद्ध कर्म करते रहना चाहिए। क्योंकि, स्वभाव से प्राप्त अपना कर्म यदि दोष (बुराई) वाला भी है , तो भी वह दूसरों के धर्म को अपनाने से अच्छा ही है। अपना नियत कर्म करने वाले को कभी पाप नहीं लगता है। क्योंकि, सभी कामों में कोई न कोई बुराई, कम या अधिक बुराई वैसे ही होती है, जैसे आग के साथ धुँआ होता ही है।

भगवान् कहते हैं कि समाज सभी प्रकार के लोगों से मिलकर बनता है। इसलिए सब लोगों के कल्याण (भलाई) के लिए अर्थात् समाज का काम चलाने के लिए, जैसे विद्वान्, बुद्धिमान् और ज्ञानवान् चाहिए, वैसे ही तलवार चलाने वाले क्षत्रिय भी चाहिएँ। उसी प्रकार व्यापार करने वाले वैश्य भी चाहिएँ। खेती करने वाले किसान भी चाहिएँ। यन्त्र

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥१८/४७॥

बनाने वाले कारीगर-लोहार, बढ़ई भी चाहिएँ। बर्तन बनाने वाले कुम्हार और कपड़ा बनाने वाले जुलाहे भी चाहिएँ। यहाँ तक कि मछुआरे, बहेलिये ओर व्याध भी चाहिएँ। समाज का काम चलाने के लिए ये सभी चाहिएँ और आज के युग में तो डाक्टर, वकील, सी० ए० और कम्प्यूटर का काम जानने वाले टैक्नीशियन भी चाहिएँ। हवाई जहाज तथा तोप, बन्दूक और बम बनाने वाले अनेक प्रकार के वैज्ञानिक भी चाहिएँ।

हाँ, शर्त केवल एक ही है कि ये सब अपना काम स्वार्थ की बुद्धि से न करके अहंकार छोड़कर और समाज की भलाई के लिए अर्थात् विश्व की भलाई के लिए ही करें। तब जाकर आज के ग्लोबलाइजेशन (वैश्वीकरण) की भावना, सचमुच ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् सारी धरती ही हमारा कुनबा है, की भावना बन जायेगी।

संक्षेप में, भगवान् ने बतलाया है कि चाहे किसी भी वजह से हो, जब एक बार कोई भी काम, हमने अपना काम मान लिया तो फिर चाहे उसमें कोई भी कठिनाई आये और चाहे वह किसी भी कारण से नापसन्द का हो जाये, तब भी अन्य किसी बात की परवाह किये बिना, उस काम को अवश्य ही करते रहना चाहिए। क्योंकि, कोई भी काम अच्छा या बुरा नहीं होता है। और, न ही किसी काम को करने से कोई आदमी छोटा या बड़ा होता है।

काम की बात, यहाँ यह जानना है कि आदमी अपना वह काम किस भावना से और किस बुद्धि से करता है। जिसका मन शान्त है, जिसने सबको अपने-जैसा मान लिया है, जिसने सब प्राणियों में रहने वाले उस परमात्मा को जान लिया है, फिर वह मनुष्य चाहे जिस देश का हो, चाहे जिस जाति का हो, चाहे जिस वर्ण का हो, चाहे कोई भी काम करता हो, चाहे गोरा हो या काला हो, चाहे किसी भी प्रकार से पूजा-पाठ करने वाला हो, हिन्दू हो, बौद्ध हो, जैन हो, मुसलमान हो, सिक्ख हो, ईसाई हो या दूसरे किसी भी धर्म का हो अर्थात् उसकी व्यक्तिगत या देहगत पहचान कुछ भी हो, अपने कर्म को करते रहने वाला वह मनुष्य, अन्त में मोक्ष को ही प्राप्त करता है।

उवाच ३० : भगवान् की शरण ले लो *अध्याय १८*

अन्त में, भगवान् श्रीकृष्ण अपने उपदेश को समेटते हुए अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन ! तू अपने सभी कर्म मुझ (भगवान्) को समर्पित कर दे और अपना मन भी तू मुझमें ही लगा ले। ऐसा कर लेने पर तू सभी संकटों से पार उतर जायेगा।

अर्जुन को, उसके अहंकार के विषय में सावधान करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि तू अपने अहंकार के कारण मेरी बात नहीं मानेगा, तो तू नाश को प्राप्त हो जायेगा। अहंकार के कारण ही तू युद्ध न करने की जो बात कह रहा है, तेरी वह बात भी नहीं चलेगी। क्योंकि तू क्षत्रिय है। तेरी प्रकृति (तेरा स्वभाव) अर्थात् तेरा क्षत्रिय होना ही तुझे लड़ने के लिये विवश कर देगा। वास्तव में, यह सब माया ईश्वर की है। वही ईश्वर प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ, उन सब प्राणियों को इस प्रकार घुमाता है जैसे वे सभी किसी घूमने वाले यन्त्र पर बैठे हुए हों। इसलिए हे अर्जुन ! तू ईश्वर की शरण ले ले। वहाँ तुझे सबसे अधिक शान्ति मिलेगी और ऐसी शान्ति मिलेगी, जो सदा ही रहने वाली है।

आगे भगवान् बहुत ही गम्भीर होकर कहते हैं कि हे अर्जुन ! यह बहुत ही गोपनीय से भी अधिक गोपनीय अर्थात् छिपाकर रखने लायक समझदारी की बात मैंने तुझे बतलायी है। तू इस पर अच्छी तरह विचार कर ले और फिर तुझे जैसा करना अच्छा लगे, तू वैसा ही कर।

इसी बात को, भगवान् एक बार फिर बहुत ही अपनेपन से और अपना भक्त मानते हुए अर्जुन से कहते हैं और उसे सुझाव देते हैं कि तू अपना मन मुझमें लगाकर मेरा भक्त हो जा। तू मेरा यजन-पूजन कर और तू मुझे ही नमन किया कर। मैं तुझे पक्का विश्वास

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥१८/६६॥

दिलाता हूँ और तुझसे वायदा करता हूँ कि ऐसा करने पर तू मुझे ही प्राप्त हो जायेगा। अर्थात् तू भगवान् का भक्त है। और तू भगवान् को ही प्राप्त कर लेगा।

हे अर्जुन ! तू मुझे अत्यधिक प्यारा है। इसलिए तू दूसरे सभी मार्गों (धर्मों) को छोड़कर, बस एक मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से छुटकारा दिलवा दूँगा। तू डर मत।

संक्षेप में, भगवान् अर्जुन को निमित्त (बहाना) बनाकर अपने सभी भक्तों को विश्वास दिलाते हैं कि जो भी मेरा भक्त है, और जो भी अपना मन और अपनी बुद्‌धि मुझमें लगाता है और अपने सारे कर्म निष्काम भाव से और बिना आसक्ति के करता है, उसका इस लोक में और उस लोक में, दोनों ही लोकों में परम कल्याण होता है।

भगवान् के उपदेश का यही सार है।

अन्त में, भगवान् अपनी तसल्ली के लिए, एक बार, फिर अर्जुन से पूछते हैं कि तूने अपना मन एकाग्र करके मेरा यह उपदेश सुन तो लिया है न? और, तेरा अज्ञान से उत्पन्न मोह दूर तो हो गया है, न?

अर्जुन इसका उत्तर बड़े जानदार शब्दों में भगवान् को देता है। वह कहता है कि हे कृष्ण ! तुम्हारी कृपा से मेरा मोह (अज्ञान) नष्ट हो गया है। अब, मुझे कोई भी सन्देह नहीं रहा है। अब मैं अपने क्षत्रिय और योद्धा धर्म के विषय में बिल्कुल पक्का विश्वासी हो गया हूँ। अब, तुम जो भी कहोगे, मैं वही करूँगा।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ गी० १८/७३॥

✪

डॉ० कर्णसिंह 'वाग्योगी'

साधारण कृषक परिवार में पैदा हुए कर्ण को भारतीयता के संस्कार तो जन्म से ही मिल गये थे, किन्तु संस्कृत और संस्कृति से उसका परिचय आठ-नौ वर्ष की अवस्था में, उस समय हुआ, जब उसे नियमित शिक्षा के लिए गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर (हरिद्वार) में प्रवेश दिलवाया गया। दैव-दुर्विपाक से बाल्यावस्था में ही, सिर से माँ-बाप का साया उठ गया और बालक कर्ण ने, अपने को नियति के हाथों में सौंप दिया।

द्वितीय महायुद्ध, १९४२ का स्वतन्त्रता-आन्दोलन और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साक्षी रहे, बालक कर्ण ने २८ जून, सन् १९५० ई. में, मेरठ को अपना घर बना लिया।

सन् १९५१ से सन् १९५६ तक के.एस. वर्मा, मेरठ कालिज के छात्र रहे। सन् १९६१ में मेरठ कालिज, हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हुए और तत्पश्चात् सन् १९६८ में मेरठ कालिज में ही संस्कृत विभाग में डॉ. कर्णसिंह हो गये। तब से प्रारम्भ हुई संस्कृत की सेवा में, वे निरन्तर आगे ही बढ़ते रहे हैं।

पहले 'पञ्चतन्त्र' आदि संस्कृत पाठ्यग्रन्थों का अनुवाद, टीका, भाष्य और समालोचना, तत्पश्चात् १-कामायनी पर वैदिक साहित्य का प्रभाव (पी-एच.डी.), २-भाषाविज्ञान (संस्कृत-हिन्दी, एम.ए. पाठ्यग्रन्थ), ३-वैदिक साहित्य का इतिहास, ४-संस्कृत वाग्योगों (मुहावरों) का विवेचनात्मक अध्ययन (डी.लिट् उपाधि और 'वाग्योगी' उपनाम) तथा अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लेख आदि उनके अध्यापनकाल के कार्य हैं।

सन् १९९५ में, मेरठ कालिज से, अध्यापन से अवकाश प्राप्त कर लेने के उपरान्त से ही 'श्रीमद्भगवद्गीता' उनका प्रेरणा-ग्रन्थ रहा है। उसी पर निरन्तर मनन-चिन्तन एवं विवेचन का ही परिणाम वाग्योगी 'श्रीमद्भगवद्गीता' और आपके हाथों में आयी यह बालकोपयोगी पुस्तक 'गीता उवाच' है।

अपने पुस्तक विक्रेता से मांगें

—वाग्योगी—

श्रीमद्भगवद्गीता

(संस्कृत-शिक्षण पदच्छेद, पदान्वय, पदार्थ एवं सरलार्थ सहित)

डॉ० कर्णसिंह 'वाग्योगी'

एम.ए., पी.एच.डी., डी. लिट

पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष, मेरठ कालिज, मेरठ

साइज 10" x 7½" पृष्ठ संख्या ४४० मूल्य ११० रुपये

गोल्डन टाइटिल, कपड़े की पक्की जिल्द, जुज़बन्दी की सिलाई, बढ़िया कागज, सुन्दर प्रिन्ट और शुद्ध छपाई

१. दिसम्बर २००३ में प्रकाशित हुआ पहला संस्करण लगभग समाप्त हो रहा है।

२. सभी पाठकों ने, एक स्वर से, इसे गीता के अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों से अनोखा बतलाया है।

३. इसकी सबसे प्रमुख विशेषता है, इसकी सरल भाषा और गीता को समझाने की, अपनी विशेष शैली, जिससे पाठक एक बार पढ़ना शुरु करने के बाद फिर इसे बीच में नहीं छोड़ता है।

४. इसमें पाठ करने की सुविधा भी है और गीता को समझने की सुबोधता भी है।

५. पाठकों की सुविधा के लिए मोटा टाइप रक्खा गया है।

६. जो लोग संस्कृत से घबराते हैं, उनका भय दूर करने के लिए संस्कृत सीखने की सरल रीति भी इसमें गीता के ही शब्दों को लेकर बतलायी है।

७. ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित होने के कारण मूल्य बहुत ही कम है।

प्रकाशक

कृष्णा-कर्ण चैरिटेबिल ट्रस्ट

'रूपनेत्रालय', शिवाजी मार्ग, मेरठ — २५० ००१

दूरभाष : ०१२१-२६४२२५६

मुद्रक : सरस्वती प्रेस, ठठेरवाड़ा स्ट्रीट, निकट शहर सर्राफा, मेरठ ✆ 0121-3097478, 2517489, 9837456425